अपनी बात

जैनसाहित्य के चार अनुयोगों में-धर्मकथानुयोग किंवा चरितानुयोग एक महत्वपूर्ण तथा सर्वजन-सुलभ सुबोध अनुयोग है। चरित्र या कथानक के माध्यम से किसी शाश्वत सत्य का उद्घाटन बहुत ही रोचक एवं जनभोग्य होता है। इसलिए जैन साहित्य का बहुत बड़ा भाग चरितानुयोग में ग्रथित-गुम्फित है। प्राकृत-संस्कृत-अपभ्रंश-गुजराती तथा राजस्थानी भाषा का भंडार इस चरित्र साहित्य से समृद्ध है।

श्रमणसूर्य प्रवर्तक गुरुदेव श्री मिश्रीमलजी महाराज की काव्य कला से आज कौन जैन अनभिज्ञ है? वे जितने ओजस्वी तेजस्वी प्रवक्ता थे, उतने ही तेजस्वी तथा प्रवाहशील कवि थे, आशुकवि थे। उनकी ललितकाव्य-कला ने जहां पांडवयशोरसायन, जैन रामायण जैसे महाकाव्यों की सर्जना की है, वहां सैकड़ों ही लघुचरित्रों, हजारों श्लोक, दोहा, गीतिका आदि से राजस्थानी भाषा के काव्य-भंडार को सुशोभित किया है। गुरुदेव श्री की कविता जितनी सहज और सुबोध है उतनी ही मार्मिक और शिक्षाप्रद भी है। आज भी वे सैकड़ों श्रावक-श्राविकाओं के कण्ठाग्र हैं, तथा अनेक श्रमण-श्रमणियां व्याख्यानों में उनका सरस वाचन करके जन-जन को प्रतिबोध देते हैं।

बहुत समय से लोगों की, खासकर नई पीढ़ी के युवक-युवतियों व विद्यार्थियों आदि की मांग आती रही है कि गुरुदेव श्री के चरित्रकाव्य राजस्थानी भाषा की कविता में

भाग्यक्रीड़ा

[गोविन्दसिंह चरित्र]

मूल लेखक

श्रमणसूर्य आशुकवि प्रवर्तक

मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

रूपान्तरकार

श्री सुकनमुनि

प्रकाशक

श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति

पीपलिया बाजार, ब्यावर

पुस्तक :
भाग्यक्रीड़ा

मूल चरित्र लेखक :
मरुधरकेसरी श्री मिश्रीमलजी महाराज

रूपान्तरकार :
श्री सुकन मुनि

प्रकाशक :
श्री मरुधरकेसरी साहित्य प्रकाशन समिति
पीपलिया बाजार, ब्यावर [राज०]

मुद्रक :
सतीशचन्द्र शुक्ल
वैदिक यन्त्रालय, अजमेर

द्वितीयावार :
वि० सं० २०४७, ज्येष्ठ पूर्णिमा
जून १९९०

मूल्य : ८ रुपया

"यह बात नहीं राजन् !" सेठ लक्ष्मीधर ने बीच में ही कहा—"चिन्ता क्या धन खाने की ही होगी ? मनुष्य के जीवन में नाना प्रकार की चिन्ताएँ लगी रहती हैं। चिन्ता से छुटकारा किसी को नहीं मिला। प्रायः लोग यही पूछते हैं कि हमारी चिन्ता कैसे दूर हो। लेकिन यह कोई नहीं पूछता कि चिन्ता होती क्यों है।"

"तो आप जानते हैं चिन्ता का कारण ?" नराधिप नरेन्द्रसिंह ने उत्सुक होकर कहा—"चिन्ता के कारण का पता चल जाए तो फिर उसे दूर करने की विधि पूछने की जरूरत ही क्या है ? मुझे भी बताओ श्रेष्ठिन् !"

श्रेष्ठी लक्ष्मीधर ने विनम्र शब्दों में कहा—

राजन् ! निश्चिन्त व्यक्ति सुखी रहता है और चिन्तित दुखी। इससे एक बात तो ध्रुव-निश्चित है कि सुख बाहर की वस्तु नहीं, भीतर की ही चीज है। अब सुनिये चिन्ता का कारण। चिन्ता स्वार्थ का दण्ड-मात्र है। अपना ही स्वार्थ साधने वाले को चिन्तित रहने का दण्ड मिलता है। कन्दुक को दीवार पर फेंकेंगे तो वह लौटकर हमारे पास आयेगी। इसी तरह हम अपने से दूसरी तरफ सुख फेंकेंगे तो बदले में सुख आयेगा और दुःख बाँटने पर दुःख। हम पाँचों इन्द्रियों के सुख चाहते हैं, तो कम-से-कम आय का दसवाँ भाग दूसरों को सुखी करने में लगा दें। इस तरह अपने स्वार्थ का त्याग करने से स्वार्थ का दण्ड—किसी भी प्रकार की चिन्ता—हमें नहीं सतायेगी।"

"धन्य हैं आप।" राजा ने कहा—"मेरी नगरी में आप जैसे उत्तम श्रावक भी रहते हैं। मुझे इसका गौरव है।"

अपनी प्रशंसा से संकुचित होकर सेठ लक्ष्मीधर ने राजा को अभिवादन किया और सभा से उठ गया। सेठ का अभिप्राय अच्छी तरह से समझने के बाद दूसरे दिन राजा ने नगर में इस प्रकार घोषणा कराई—

"उज्जयिनी के जो भी व्यापारी, शिल्पी, कलाकार और मजदूर आदि धनार्जन करने के लिए विदेश जाना चाहते हों, वे श्रेष्ठी लक्ष्मीधर के साथ जा सकते हैं। दोनों ओर का मार्गव्यय, भोजन, औषध आदि के साथ सभी के लिए क्रय-पूंजी सेठ लक्ष्मीधर ही देंगे। मजदूरों को वे भरपूर भोजन और वेतन देंगे। जो भी जाना चाहें, वे पन्द्रह दिन तक अपना नाम श्रेष्ठी लक्ष्मीधर के कार्यस्थ को लिखा दें और उनकी दानवीरता का लाभ उठायें।"

इस घोषणा से उज्जयिनी में खुशी की एक लहर-सी दौड़ गयी। आ-आकर लोग अपना-अपना नाम लिखाने लगे। श्रेष्ठी लक्ष्मीधर के सेवक, मुनीम आदि भी विदेशगमन की तैयारियों में जुट गए। सैंकड़ों छकड़े, ऊँटगाड़ी और रथ तैयार होने लगे।

× × ×

उज्जयिनी में कालू नाम का एक आलसी, निकम्मा, निर्धन और साथ ही चतुर (कुटिल) नाई रहता था। कालू के माता-पिता नहीं थे। फिलहाल उसका नया-नया ब्याह हुआ

था। बहू गौने से आई थी। घर में दो ही प्राणी थे—कालू और उसकी पत्नी अनोखी। सेठ लक्ष्मीधर की ओर से राजा की घोषणा सुनी तो कालू का भी मन हुआ कि वह भी सबके साथ विदेश जाए। लेकिन उसके निठल्लेपन और प्रमाद ने उसका यह विचार दबा दिया और सबसे अधिक दबाया नई बहू की बिछोह-कल्पना ने। कालू अपनी पत्नी को छोड़कर कहीं जाना नहीं चाहता था। लेकिन उसकी पत्नी इस अवसर का लाभ उठाना चाहती थी, इसलिए उसने कालू को उकसाया—

"घोषणा हुए आठ दिन हो गये और तुमने अभी करवट भी नहीं बदली। क्या जाओगे नहीं? बहती गंगा में तो सभी हाथ पखार लेते हैं।"

"चला तो जाऊँ, पर तुझे छोड़ने का मन भी तो नहीं करता।" कालू बोला—"तू भी कैसी हृदयहीन है, जो मुझे परदेश भेज रही है। मेरा वियोग सहेगी तू?"

अनोखी ने तपाक से कहा—

"भरे पेट पर ही संयोग-वियोग की बातें सुहाती हैं। तुम्हारा तो यह हाल है कि 'मरें भुक्ख और रहें सुक्ख।' साल-दो साल मैं अपने पीहर में काट लूंगी और इधर तुम परदेश से धन कमा लाओगे तो फिर जिन्दगी बड़े आनन्द से बीतेगी।"

अनोखी की बातों से कालू विचार में पड़ गया। उसने विचार किया—'मैं ऐसी चालाकी से काम करूंगा कि सेठ लक्ष्मीधर से पूरा धन भी ले लूंगा और बीच मार्ग में ही कहीं

से भी लौट आऊँगा ।' इस तरह सोचते-सोचते कालू ने अपने बचाव की एक युक्ति भी सोच ली । लेकिन उसने अपने मन की बात अपनी पत्नी अनोखी को नहीं बताई । दरअसल यह कालू नाई अपने को जितना चतुर-चालाक समझता था, उतना ही मूर्ख था और साथ ही धूर्त भी । नये-नये ब्याह के कारण वह घर छोड़ना नहीं चाहता था और इसी के लिए वह अटकलें सोच रहा था ।

सोच-विचार के बाद कालू सेठ लक्ष्मीधर की हवेली पर पहुँचा । जिस जगह विदेश जाने वालों के नाम लिखे जा रहे थे, वहीं जाकर कालू भी खड़ा हो गया । सेठ लक्ष्मीधर भीतर थे, वहाँ मुनीम आदि कार्यस्थ ही बैठे थे । लिखने वाले ने कालू से कहा—

"पहले यह बताओ व्यापारी हो या शिल्पी अथवा मजदूर । फिर अपना नाम बताओ ।"

"उज्जयिनी के कालू नाई को सभी जानते हैं ।" कालू ने कहा—"और तुम नाम पूछ रहे हो ?"

झल्लाकर मुंशी ने कहा—

"नाम तो कालू औरों का भी है । तुम्हारे माथे पर तो कालू नाई लिखा नहीं है । जल्दी बताओ, सार्थ के साथ रहकर कौन-सा काम करोगे ।"

कालू ने कहा—

"इस समय तो मैं सेठजी से मिलना चाहता हूँ, जो कुछ कहूँगा, उनसे ही कहूँगा ।"

"ठीक है।" कहकर कार्यस्थ ने कालू को सेठ लक्ष्मीधर के पास भेज दिया। सेठजी को प्रणाम करके धरती पर ही बैठ गया कालू और बोला—

"सेठजी ! आपके सार्थ के साथ मैं भी विदेश जाना चाहता हूँ। आप जो भी काम बतायेंगे करूँगा। रात को आपके पैर दबाया करूँगा। मुझे भी साथ ले लें।"

सेठ बोले—

"यह भी कोई पूछने की बात है कालू ? तुमने मेरी घोषणा तो सुनी ही होगी। पन्द्रह दिन का समय था मेरी घोषणा में। आठ दिन बीत गये। लेकिन अब सात दिन और भी बढ़ गए हैं। मुहूर्त ही ऐसा निकला है। तुम शौक से चल सकते हो।"

कालू बोला—

"आपने जो भी कहा है, वह सब तो ठीक ही है। लेकिन मेरी कुछ कठिनाइयाँ हैं।"

"वह भी कहो।" सेठ बोले—"कठिनाइयाँ हल करने के विचार से ही तो मैं उज्जयिनी के लोगों को अपने खर्चे पर विदेश ले जा रहा हूँ, तो फिर तुम्हारी कठिनाइयाँ कायम रखकर मैं तुम्हें ले जाऊँ तो मेरा उद्देश्य ही विफल हो जायगा। कह डालो। मैं सब पूरी कर दूंगा।"

कालू बोला—

"पहली बात तो यह है कि जब तक आपका सार्थ विदेश से न लौटे, तब तक मेरे घर का खर्चा बराबर चलता रहे।"

"ठीक है।" कहकर सेठजी ने एक आज्ञा-पत्र लिखा—"कालू की घरवाली अनोखी को महीने में बीस रजतखण्ड (रजतमुद्राएँ) हमारे खजाने से हमारे लौटने तक बराबर मिलती रहें।"

यह आज्ञा-पत्र कालू को देते हुए सेठ ने उससे कहा—

"मेरे इस लिखित आदेश के अनुसार तुम्हारी घरवाली को बीस रजतमुद्राएँ हर महीने बराबर मिलती रहेंगी। उसका काम बड़े आराम से चलेगा। विदेश से लौटकर मैं तुम्हें पर्याप्त धन दूँगा। अब तो ठीक है? और बताओ।"

खुश होता हुआ बोला कालू—

"यह तो ठीक है माई-बाप! लेकिन एक समस्या और है? आप आज्ञा दें तो कहूँ?"

"कहो, कहो। कहोगे क्यों नहीं?"

"सेठजी! वह कुछ कठिन है। संकोच होता है।"

सेठजी उत्साह में आ गये, सो बोले—

"कहते क्यों नहीं हो? डरो मत। कितनी भी कठिन बात हो, मैं उसे भी मानूँगा। तुम्हारा संकोच निकालने के लिए वचन देता हूँ कि तुम्हारी सब बातें मान लूँगा।"

अब कहा कालू ने—

"सेठजी! मार्ग में मैं जो भी बात पूछूँ, उसका रहस्योद्घाटन आपको करना होगा। यदि नहीं कर पायेंगे तो आपका सार्थ आगे नहीं बढ़ पायेगा, वहीं से उज्जयिनी लौटना होगा।"

'यह कहता क्या है ?' सेठजी बड़े चकराये और सोचने लगे—'इसकी इस बेतुकी शर्त में इसकी कौन-सी कठिनाई छिपी है ? आखिर तो नाई छत्तीसा होता है।'

कुछ देर सोचने के बाद सेठ लक्ष्मीधर ने आँखें झुकाये कालू से कहा—

"कालू ! मुझे तेरी यह विचित्र शर्त भी स्वीकार है। कार्यस्थ को नाम लिखा दो और काम के खाने में लिखाना सेठजी की निजी सेवा।"

खुश होता हुआ नाई चला गया। कार्यालय का काम पूरा करने के बाद वह अपनी पत्नी के पास पहुँचा और अब उसे मन की बात बताई—

"यह ले अनोखी ! बीस रजतखण्ड तुझे हर महीने बराबर मिलते रहेंगे। अब तुझे पीहर-वीहर जाने की तनिक भी जरूरत नहीं है। मैं भी जल्दी लौटूंगा। सेठजी से एक ऐसी शर्त लगा दी है कि वे मुझे लेकर शीघ्र ही बीच में से उज्जयिनी लौट आयेंगे। कहीं-न-कहीं तो ऐसी रहस्यमय पहेली मिलेगी ही, जिसका हल सेठजी के पास नहीं होगा और उन्हें लौटना पड़ेगा।"

इसके बाद कालू ने सेठजी से हुई सब बातें अपनी पत्नी अनोखी को बताई। पति की पत्नी के प्रति इस आसक्ति को देखकर अनोखी को कुछ अच्छा नहीं लगा, पर उसने मन की बात मन में ही रहने दी। फिर मुहूर्त का दिन आ गया तो लक्ष्मीधर सेठ के सार्थ ने विदेश के लिए प्रस्थान किया। हजारों

सेवक, व्यापारी, शिल्पी आदि से भरे रथ, घोड़े, ऊँटगाड़ियां और छकड़ों ने बहुत लम्बा मार्ग घेर लिया था।

× × ×

किसी जंगल में सेठ लक्ष्मीधर का सार्थ ठहरा था। सवेरे सब लोग इधर-उधर जंगल में ही शौच के लिए गए। कुछ नदी की ओर निकल गए। कालू भी इनमें एक था। उसने वन में एक विचित्र बात देखी कि बबूल के पेड़ पर हरा लौका लटका हुआ है। कालू ने सोचा—'बबूल पर लौका कैसे आ सकता है ? लौके की तो बेल होती है। बेल का कहीं निशान भी नहीं है। बेल होती तो तने पर लिपटी होती। अब मजा आयेगा। उज्जयिनी से चलने के बाद यह सेठ के सार्थ का तीसरा ही पड़ाव है। अब सार्थ को आगे नहीं बढ़ने दूंगा।'

मन-ही-मन खुश होता हुआ कालू सेठ लक्ष्मीधर के पास पहुँचा और बोला—

"सेठजी ! अब आपका सार्थ आगे नहीं बढ़ सकता। मेरे साथ चलें और बबूल पर लटका लौका देखें। इस रहस्य को तो कोई नहीं बता सकता।"

मन-ही-मन कालू की मूर्खता पर हँसते हुए सेठजी उसके साथ उक्त बबूल के पास पहुँचे। उन्होंने अच्छी तरह बबूल का निरीक्षण किया और फिर कालू को समझाया—

"देख कालू, ध्यान से देख ! बबूल की जड़ में लौके की बेल का यह ठूंठ है।" ठूंठ के आस-पास का कूड़ा-करकट और घास-पत्ते हटाते हुए सेठ ने कहा—"यहां से बेल बबूल

के तने पर लिपटती हुई ववूल के ऊपर पहुँची। उस पर लौके का यह फल भी लगा, जो तुम्हें ववूल पर टँगा दीख रहा है। किसी नटखट ग्वाले ने यहाँ से वेल काट दी और वेल को झटककर लौका तोड़ना चाहा। लौके के पास से वेल तो टूट गई किन्तु लौका ववूल में अटका रह गया। यह घटना दो-चार दिन की ही है। इसीलिए लौका हरा है। कुछ ही दिन में यह सूख जायगा। भले आदमी, जैसा वीज वैसा ही फल होता है। भला ववूल पर भी कहीं लौका लग सकता है?"

अपनी मूर्खता पर झेंप गया कालू। उज्जयिनी लौटने की वात उसके मन की मन में ही रह गई। फिर वह सेठ के साथ पड़ाव पर लौट आया और मन में सोचा, 'आज तो मैं मात खा गया। कभी न कभी तो ऐसी वात हाथ लगेगी कि ये भी क्या याद करेंगे?'

इसके वाद यथासमय सेठ लक्ष्मीधर के सार्थ ने आगे प्रस्थान किया।

× × ×

चलते-चलते सेठ लक्ष्मीधर का सार्थ चम्पापुरी नगरी के निकट वन में पहुँचा और वहीं पड़ाव डाला। कुछ खाद्य-सामग्री लेने सेठ लक्ष्मीधर के सेवक नगरी को गए। कालू भी उनके साथ था। ये सव जैसे ही चम्पापुरी के प्रवेशद्वार पर पहुँचे कि वहाँ एक विचित्र वात देखी। एक चवूतरा वना था। उस पर एक आदमी वैठा था। चवूतरे पर ही एक रखा था। उस आदमी ने उज्जयिनी वालों से कहा—

"नगरी में प्रवेश करने से पहले यह जूता हाथ में लो और बारह-बारह जूते इस चबूतरे पर मारते हुए नगरी में प्रवेश करो।"

एक ने पूछा—

"ऐसा क्यों करें ?"

चम्पापुरी के द्वाररक्षक ने बताया—

"हमारी नगरी की यह परम्परा है कि जो भी परदेशी इस नगरी में आये, वह इस चबूतरे पर बारह जूते लगाकर प्रवेश करे।"

अन्त में कालू का नम्बर आया तो उसने पूछा—

"जूते तो मैं बारह क्या, छत्तीस लगा दूंगा। पर तुम्हारे यहाँ की इस परम्परा का कारण क्या है ? यह तो बड़ी बेतुकी बात है।"

द्वाररक्षक ने कहा—

"पीढ़ियों से हमारे यहाँ यह नियम चल रहा है। पर इसके पीछे क्या रहस्य है, इसे कोई भी नहीं जानता। यहाँ का वर्तमान शासक भी अनभिज्ञ है तो हम नागरिक ही कैसे जानें ?"

बस कालू वहीं से लौट आया। न तो उसने चबूतरे पर जूते मारे और न ही नगरी में प्रविष्ट हुआ। पड़ाव पर आकर उसने सेठ से जूते वाली बात कही और बोला—

"जब तक आप इस जूता-रहस्य का उद्घाटन नहीं करेंगे, तब तक आपका सार्थ आगे नहीं बढ़ सकता।"

कालू तो वृद्ध है, यह सोच सेठ अकेले ही प्रवेशद्वार पर पहुँचे और चबूतरे पर बारह जूते मारकर नगरी में घुस गए। वहाँ उन्होंने पुराने बड़े-बूढ़ों से जूता-रहस्य की पूछताछ की, पर सबने वही उत्तर दिया, जो पहले द्वाररक्षक ने कालू को दिया था। बड़े चिन्तित से सेठ पड़ाव पर लौट आये और सोचने लगे, 'इस बार तो कालू ने गाड़ी अटका दी। रहस्य बिना बताये अब मैं आगे कैसे बढ़ सकता हूँ?' सोच-विचार कर उन्होंने कालू से कहा—

"कालू ! तेरे वचन में बँधा हूँ, इसलिए तेरी बात का रहस्य बताये बिना आगे नहीं बढ़ूँगा। तू मुझे रातभर का समय दे। कल सवेरे यदि मैं तेरे प्रश्न का उत्तर न दे सका तो सार्थ को उज्जयिनी वापस ले चलूँगा।"

मन-ही-मन कालू बहुत खुश हुआ। उसने सोचा— "लाख सिर पटकने पर भी सेठजी मेरे प्रश्न का उत्तर नहीं दे सकते। अब इन्हें झक मारकर उज्जयिनी लौटना पड़ेगा। अनोखी बड़ी खुश होगी और मेरी बुद्धिमत्ता की बधाई देगी।'

इधर रात हुई तो कालू सेठ लक्ष्मीधर के पैर दबाने बैठा। आज सेठजी ने उसे विदा करते हुए कहा—

"कालू ! आज रहने दे। तू जाकर सो जा। आज की रात एकान्त में मैं तेरे प्रश्न का उत्तर खोजूँगा।"

कालू अपने डेरे पर चला गया। एकान्त शिविर में सेठजी कुलदेवी के ध्यान में बैठ गए। वे पुण्यात्मा और सरल स्वभावी थे, इसलिए उनके ध्यान से आकृष्ट होकर कुलदेवी

खिंची चली आई और प्रकट होकर पूछा—

"वत्स ! तुम पर क्या संकट है ?"

सेठ ने बताया—

"मातेश्वरी ! आप तो भीतर की बात भी जान लेती हैं। आपसे क्या छिपा है ? फिर भी बताता हूँ। मेरी गाड़ी अड़ गई है। इसे निकालो।"

सेठ ने जूते के रहस्य की बात आद्योपान्त कुलदेवी को बताई। अवधिज्ञान का प्रयोग करके देवी ने सब रहस्य जान लिया और ज्यों-का-त्यों सब कुछ सेठ को बताया। फिर देवी अन्तर्धान हो गई। सवेरा तो होने को ही था। सेठजी नित्यकर्म से निवृत्त हुए और अपनी ओर से ही कालू को आवाज देकर बुलाया। फिर बोले—

"बैठ जा कालू ! तेरे प्रश्न का उत्तर रात मेरी कुल-देवी ने मुझे बता दिया। वह मैं तुझे बताता हूँ। बड़ी लम्बी कहानी है। सब लोगों को शौचादि से निवृत्त हो जाने दे। सभी के सुनने-लायक बड़ी ही रोचक और भाग्य-क्रीड़ा का चमत्कार दिखाने वाली यह कहानी बड़ी ही प्रेरणादायक भी है। इसे सुनने के साथ जो गुनेगा—जीवन में धारण भी करेगा, उसका कल्याण निश्चित्त ही होगा।"

फिर यथासमय सब एकत्र हुए। कालू को सम्बोधित करते हुए सेठ लक्ष्मीधर ने कहा—

"बहुत वर्षों पहले इसी चम्पापुरी में चन्द्रसेन नाम के एक आदर्श राजा राज्य करते थे। उनके बारह रानियाँ थीं।

तब इसी नगरी में गंगदत्त नाम का एक किसान भी था। किसान तो और भी थे, पर इस कहानी का एक पात्र यह गंगदत्त किसान भी था। इसी तरह वज्रमणि और सुभगसिंह नामक दो वणिक् भी यहाँ रहते थे। कहानी का प्रारम्भ वज्रमणि और सुभगसिंह के बीच हुए वार्तालाप से होता है, जो दोनों गंगदत्त किसान और राजा चन्द्रसेन की चर्चा से ही इस कहानी को उठाते हैं। यहीं से मैं भी यह कहानी कहता हूँ।

"कालू ! धैर्य से सुनना। कहानी लम्बी है और इसके अन्त में ही तुम यह जान पाओगे कि तब से अब तक और आगे न जाने कब तक—इस चबूतरे पर जूते मारने का नियम क्यों चल रहा है।"

इसके बाद सब अपने-अपने स्थान पर सम्हलकर बैठ गए और दत्तचित्त हो जूता-रहस्य की कहानी सुनने लगे। कालू तो सेठ के बहुत ही निकट बैठा था। □

2

"गंगो तो बहुत मनहुस निकला।"

"कैसे ?"

"कैसे क्या ? महाराज चन्द्रसेन नगरी छोड़कर वन को चले गए। इससे अधिक और क्या होगा ?"

"वज्रमणि ! महाराज चन्द्रसेन तो सन्तान-दुःख से दुःखी होकर ही वन को गए हैं। शायद वहाँ जाकर सन्तान-प्राप्ति के लिए तप करें। इसमें गंगो ने क्या किया ?"

सुभगसिंह के प्रश्न का उत्तर देते हुए वज्रमणि ने कहा—

"सुभगसिंह ! महाराज चन्द्रसेन को सन्तान-दुःख तो पहले भी था। पर अब तो वे गंगो किसान की मनहूसियत के कारण ही गए हैं। तुम्हें शायद पूरी बात मालूम नहीं। क्या चम्पापुरी में नहीं रहते ?"

"रहता भी हूँ और नहीं भी रहता।" सुभगसिंह बोला—"काम-काज के लिए बाहर भी जाना पड़ता है। तुम्हारी बात ने मुझे उत्सुक किया है। हमारे राजा के वन-गमन में गंगो किसान का क्या हाथ है, यह रहस्य बताओ पहले।"

ये बातें चम्पापुरी के दो नागरिकों के बीच हो रही

थीं। एक था वज्रमणि और दूसरा सुभगसिंह। वज्रमणि मूँगा-मोती, सीप आदि बेचता था और सुभगसिंह कपड़ों की फेरी लगाता था। संध्या को दोनों प्रायः मिलते थे। जब सुभगसिंह फेरी लगाकर लौटा तो उसने सुना कि राजा चन्द्रसेन नगर छोड़कर वन को चले गए हैं। सभी यह कहते थे कि सन्तान न होने के दुःख से चले गए हैं, पर वज्रमणि ने एक नई बात यह बताई कि वे गंगदत्त किसान की मनहूसियत के कारण गए हैं। उसका उत्सुक-चकित होना स्वभाविक था। अतः वज्रमणि ने आदि से अन्त तक सुभगसिंह को सम्पूर्ण वृत्तान्त सुना डाला।

चम्पापुरी के राजा चन्द्रसेन के बारह रानियाँ थीं, पर सन्तान एक के भी नहीं हुई। वैसे वे एकपत्नीव्रती थे, पर सन्तान होने के लोभ में एक के बाद एक विवाह करते गए। बारह के बाद निश्चय किया, अब नहीं करूँगा। जब भाग्य में ही सन्तान नहीं तो होगी कैसे? यदि होती तो पहली रानी के ही होती। पत्नी का बाँझ होना तो एक बहाना है। यदि भाग्य ही मुझे निःसन्तान रखना चाहता है तो जितने भी विवाह करूंगा, सब बाँझों के ही साथ होंगे।

वैसे चन्द्रसेन एक आदर्श राजा थे। बहुत वीर और पराक्रमी। न्याय-नीति के रक्षक और मर्यादा के पालक। चम्पापुरी की प्रजा उन्हें अपना पिता मानती थी। वे भी अपनी प्रजा का पालन सन्तानवत् करते थे। युद्धवीर थे राजा चन्द्रसेन, पर युद्ध सदा तो होते नहीं। अतः अपना क्षत्रिय-

उन्माद मिटाने वे वनखेलन करने अवश्य जाते थे। यही उनमें एक व्यसन था।

यों तो चम्पापुरी में धनी-मानी सेठ-साहूकार ही अधिक रहते थे, पर जब तक निर्धन न हों, धनी का अस्तित्व ही क्या है? सो चम्पापुरी में किसान और मजदूर भी थे। पर अपने स्तर में खुशहाल तो वे भी थे। जहाँ प्रजा को न्याय और चोर-उचक्कों से संरक्षण मिले, वहाँ की निर्धन प्रजा भी खुशहाल रहती है। इसी नियम के अन्तर्गत चम्पापुरी के किसान-मजदूर भी खुशहाल थे। लेकिन किसान की खुशहाली उसकी खेती होती है और खेती पूरी तरह पुरुषार्थ पर निर्भर नहीं है। कहावत भी है कि 'खड़ी खेती और गाभिन गाय, तब जानो, जब घर में आय'। खलिहान तक आने के बाद भी यह निश्चय नहीं होता कि किसान अपने श्रमफल का उपभोग कर ही लेगा। कर्मदोष से कोई नहीं बचता। खड़ी फसल अति-वृष्टि-अनावृष्टि और टिड्डी दल से बच भी जाय तो पहाड़ से ऊँचे उठे खलिहान अग्नि की भेंट हो जाते हैं। चम्पापुरी का गंगदत्त किसान इसका भुक्तभोगी था। पिछले वर्ष वह अपने लहलहाते खेतों को देखकर बड़ा खुश होता था। लेकिन जाने कैसे खलिहान में आग लग गई तो सब राख हो गया।

किसान का जीवन साधक का सा जीवन होता है। यदि उसे ही भूसुर और अन्नदाता कहें तो झूठ क्या है? इस बार भी गंगदत्त अपने लड़के को लेकर सवेरे मुंह अंधेरे ही हल

लेकर खेत जोतने जाता था। जब सब जुताई पूरी हो गई तो एक दिन सवेरे बीज बोने चला। जब चला तो पीछे से घोड़े की टापें सुनाई दीं। मुड़कर देखा तो नराधिप चन्द्रसेन सवेरे-सवेरे वनखेलन हेतु जा रहे थे। उन्हें देखते ही गंगदत्त ने अपने पुत्र से कहा—

"बेटा ! हल-बैल पीछे लौटा ले। आज बुवाई नहीं होगी।"

राजा चन्द्रसेन ने भी गंगदत्त की हाँक सुनी और पिता-पुत्र दोनों को लौटते हुए देखा। राजा भी लौट पड़े और धीमी गति से घोड़ा चलाते हुए सोचने लगे—'इस किसान के लौटने का क्या कारण हो सकता है ? अच्छा-भला बीज की पोट लिये बुवाई करने जा रहा था। अगर कुछ घर पर भूल आया था तो लड़के से यही कहता कि जा, घर से अमुक चीज ले आ। लेकिन ऐसी कोई बात नहीं है। इसने मुड़कर मुझे देखा और दूर हटकर खड़ा हो गया। अभिवादन भी नहीं किया इसने। इसकी कोई बात नहीं, क्योंकि मुझसे काफी दूर था। लेकिन मुझे देखकर लौट क्यों गया ?'

यही सोचते हुए महाराज चन्द्रसेन राजभवन को लौट रहे थे। अभी अँधेरा था। चाँदनी छिटकी हुई थी और तारे भी क्षीण-मलीन से चमक रहे थे। ब्राह्म मुहूर्त था, सूर्योदय होने में देर थी। महाराज चन्द्रसेन तिरछे मार्ग से ऐसे चल रहे थे कि उक्त किसान को अपना पीछा करने का कोई सन्देह न हो। सन्नाटा होने के कारण किसान और उसके पुत्र का

वार्तालाप सुनाई दे रहा था। किसान अपने पुत्र से कह रहा था—

"हर काम में भाग्य जुड़ा है। मैंने तो सोचा था कि सूर्योदय होते-होते कुछ सहस्र वर्गपग क्षेत्र[1] में बीज बो दूंगा। पर नहीं हो सका।"

लड़के ने पूछा—

"दद्दू ! अगर आज बीज बो देते तो क्या हो जाता? जब बीज क्षेत्र में पड़ता तो उगता ही। उस दिन मुनि महाराज भी तो यही कहते थे कि 'कर्मक्षेत्र और अन्नक्षेत्र की गति एक ही समझो। जैसे किसान अपने क्षेत्र में जैसा बीज डालता है, वैसा ही उगता है। उसी तरह हम सब मनुष्य किसान हैं।' हम कर्म के बीज बोते हैं। आप बोते तो क्यों न उगता ?"

गंगदत्त बोला—

"इतनी जल्दी तू समझेगा नहीं। मूल बात यह है कि अगर आज बीज क्षेत्र में पड़ भी जाता तो उसकी फसल घर में नहीं आती, बीज उगता, अवश्य उगता। लेकिन फिर इस फसल को वनगायें खातीं। टिड्डी दल चट कर जाता या और कुछ होता। आज का प्रभात ही ऐसा मनहूस है।"

इसके बाद की बातें राजा चन्द्रसेन नहीं सुन पाये, क्योंकि

---

१. पहले बीघा, एकड़, हेक्टेयर आदि नाप नहीं थे। क्षेत्र अथवा खेत वर्गपग के अनुमान से जाने जाते थे।

किसान एक मोड़ पर मुड़ गया था। रथ्या (सड़क) पर और भी आदमी आने-जाने लगे थे। लेकिन आगे की बातों में राजा ने इतना अवश्य सुन लिया था कि किसान का नाम गंगदत्त है। मुड़ते-मुड़ते गंगदत्त ने अपने बेटे से कहा था कि 'पिछले साल तो सब कहते ही थे कि गंगदत्त अभागा है। उसके खलिहान पहाड़ से लगते थे और बेचारे को एक दाना नहीं मिला। यदि आज बीज बोता तो इस बार भी तो सभी कहते कि गंगो किसान पापी है।' इतनी बातें राजा ने अस्पष्ट सुनी थीं, पर इतना जान लिया था कि इस किसान का नाम गंगो अथवा गंगादत्त है।

चन्द्रसेन नृप ने अपना अश्व भवन की ओर मोड़ दिया और सोचने लगे—'आज का प्रभात तो मेरे लिए भी मनहूस निकला। आज मुंह अंधेरे ही उठकर चला था कि वन में खूब आनन्द मिलेगा। आज इस किसान की बातों ने मेरा मन ही अशान्त कर दिया। बड़ी रहस्यमय बातें हैं, इसकी। आज के प्रभात में ऐसी क्या मनहूसियत थी कि इसने बीज बोने का निश्चय बदल दिया? हाँ, एक बात हो सकती है, जैसे राजा को कुछ रहस्य पकड़ में आया हो, सो सोचने लगे—'मैं वनखेलन करने जा रहा था और गंगदत्त जा रहा था बीज बोने। दोनों विपरीत स्वभाव के काम हैं। बीजवपन सृजन है और बेकार घूमना विनाश है। गंगदत्त ने सोचा होगा कि सवेरे-सवेरे घर से निकलते ही बेकार घुमक्कड़ मिल गया तो शकुन बिगड़ गया। इसीलिए लौट गया। यही कारण होगा।

और हो भी क्या सकता है ?'

अपनी-अपनी बुद्धि के अनुसार ही आदमी सोच पाता है। राजा चन्द्रसेन ने भी सोचा। अपने को ऊँचा उठाना था, इसलिए यह भी सोचा कि 'मैं ऐसा-वैसा घुमक्कड़ तो हूँ नहीं। निन्दनीय तो वे वधिक हैं, जिनका धन्धा ही आखेट करना है। जितना मैं करता हूँ, वह तो राजा का धर्म है। युद्धाभ्यास बना रहता है। घूमना यह क्षत्रिय का भूषण है। गंगदत्त मुझे देखकर क्यों लौटा ? उसे लौटना नहीं चाहिए। बुलाऊँगा आज।'

राजभवन पहुँच गये राजा चन्द्रसेन। सवेरा हो गया था। यथासमय वे राजसभा में विराजमान हुए। दाहिने हाथ पर महामात्य सुबुद्धि का आसन था। राजा ने मंत्री सुबुद्धि से ही कहा—

"मन्त्री ! चम्पापुरी में कोई गंगदत्त नाम का किसान है। उसे बुलाना है।"

मन्त्री ने राजा की ओर क्षणभर देखा, फिर प्रतिहार को राजा का आदेश दुहरा दिया। प्रतिहार दो और सेवकों को लेकर गंगदत्त किसान की खोज में चल दिया। लेकिन कहाँ ढूंढ़े उसे ? चम्पापुरी में तो एक भी किसान नहीं था। यहाँ तो श्रेष्ठी रहते थे। मुख्य नगरी से लगे-सटे कुछ गाँव थे, जो चम्पापुरी की ही सीमा में आते थे और इन्हीं में किसान रहते थे। लेकिन समस्या यह थी कि कौनसी पट्टी के गाँवों में देखा जाए ? कुछ बहुत समृद्ध किसानों के ऊँचे

भवन खास चम्पापुरी में भी थे, पर उनमें गंगदत्त कोई नहीं था। अतः अनुमान से ही प्रतिहार पछाइँ पट्टी के किसानों की वस्ती में गया तो संयोग से उसे गंगदत्त का घर मिल गया। राजसेवकों को देखते ही गंगदत्त को पसीना आ गया। उसे अपनी मौत दिखाई देने लगी। जब प्रतिहार ने राजाज्ञा सुनाई तो गंगदत्त की पत्नी ने हाथ जोड़कर प्रार्थना की—

"इन्होंने कोई अपराध नहीं किया है। इन्हें मत ले जाओ। मैं आपके हाथ जोड़ती हूँ।"

राजभक्त प्रतिहार ने कहा—

"आप महाराज चन्द्रसेन के स्वभाव से परिचित तो हैं, फिर भी इतने घवरा रहे हैं! वे न्याय के लिए सब कुछ दाँव पर लगाने वाले सुशासक हैं। ऐसे प्रजावत्सल सम्राट् से डरना अनुचित है। यह तो हमें भी नहीं मालूम कि उन्होंने क्यों बुलाया है।"

दूसरे राजसेवक ने कहा—

"यदि आप डरें भी तो भी विना जाये काम नहीं चलेगा। वे इतने कठोर भी हैं कि राजाज्ञा का उल्लंघन सहन नहीं कर सकते।"

गंगदत्त के पुत्र पिण्डक ने उसे आश्वासन दिया—

"दद्दू! आप व्यर्थ डर रहे हैं। आपने क्या विगाड़ा है राजा का? वीज वोने नहीं गए तो अपनी इच्छा। चलो मैं भी चलता हूँ आपके साथ।"

पिता-पुत्र दोनों राजसभा पहुँचे। राजा चन्द्रसेन

गम्भीर मुद्रा में थे। प्रश्न किया उन्होंने—

"गंगदत्त तुम्हीं हो?"

"जी अन्नदाता!"

"अन्नदाता तुम हो या मैं?"

"जी, जी····।" कहते-कहते अटक गया गंगदत्त। राजा ने उसका साहस बढ़ाया—

"डरो मत गंगदत्त! मेरे प्रश्नों का उत्तर निर्भय होकर देते चलो।"

गंगदत्त का साहस बढ़ा। भय और झिझक दोनों गए, पर पूरे नहीं गए। राजा ने पुनः पूछा—

"तुम अन्न उपजाते हो। अतः अन्नदाता तो तुम हुए, नहीं।"

अब गंगदत्त ने खुलकर कहा—

"स्वामी! राज-मजदूर भवन बनाते हैं; फिर भी भवन क्या उनका होता है? पृथ्वी के सर्वांग का स्वामी तो नरनाथ होता है। किसान तो उसकी ऊपरी सतह का सेवक है।"

"तुम ठीक ही कहते हो गंगदत्त!" राजा ने अपने कथन को मोड़ते हुए कहा—"मैं ही पृथ्वीनाथ हूँ और मैं ही अन्न-दाता हूँ। इतना तुम भी मानते हो। इतने पर भी मेरे प्रथम दर्शन को तुमने अपशकुन माना? क्या इसलिए कि मैं वन-खेलन को जा रहा था? क्या मैं मात्र घुमक्कड़ ही हूँ, तुम्हारा राजा नहीं? आज तुम्हारे बीज न बोने का जो भी कारण रहा हो, उसे स्पष्ट कह डालो।"

गंगदत्त एकदम सिहर गया। कँपकँपी-सी आ गई उसे। भूमि तक उसने अपना मस्तक झुकाया और बोला—

"अन्नदाता ! मेरा अपराध क्षमा हो। आप जैसे राजा की प्रजा बनना सद्भाग्य है। चम्पापुरी के लोग भाग्यशाली हैं। पर दूध का जला मठा भी फूंक-फूंक कर पीता है। मेरा अपराध क्षमा करें देव !"

"ऐसे नहीं।" राजा चन्द्रसेन ने किंचित् क्रोध में कहा—"तुम्हें सब कुछ बताना पड़ेगा। एक ओर मुझे सुशासक भी मानते हो और दूसरी ओर मेरी इतनी अवमानना ?"

गिड़गिड़ाकर बोला गंगदत्त—

"अभय दें देव !"

"अभय देता हूँ।" राजा ने कहा—"जो भी हो सच-सच कहो। सच और स्पष्ट कहने पर तुम्हारा बाल भी बांका नहीं होगा।"

"अन्नदाता ! मैं........मैं........।" अटक गया गंगदत्त।

राजा ने उसे उत्साहित किया—

"डरो मत ! अभय दे चुका हूँ तुम्हें। कह डालो।"

साहस करके गंगदत्त ने एक ही सांस में कहा—

"अन्नदाता ! पिछले वर्ष मेरी फसल बहुत अच्छी थी। सब जानते हैं। मैंने परिश्रम भी पूरा किया था। जाने कैसे खलिहान में आग लग गई। मुझे मुनि की वाणी याद आ गई कि पाप-पुण्य की छाया सब पर पड़ती है। इसी जन्म के पाप,

इसी जन्म में भी उदित होते हैं, पर-भव में तो होते ही हैं मैंने सोचा कि किसी पाप के कारण मेरा खलिहान जला है सो इस बार सावधानी वरतूंगा।

"अन्नदाता ! शास्त्र और लोकानुभव ऐसा कहता है कि यदि निपुत्री व्यक्ति सामने पड़ जाये तो बना काम भी बिगड़ जाता है। इस पर निपुत्री राजा का प्रथम दर्शन तो और भी अशुभ होता है। मैंने यह तो सोचा भी नहीं था कि आप वन-खेलन करने जा रहे हैं। मैंने सोचा था कि निस्संतान राजा के प्रथम दर्शन से मेरा बीजवपन अशुभ हो जायगा। इस साल भी सब चौपट होगा।"

कहते-कहते रो पड़ा गंगदत्त। फिर बोला—

"मुझे दण्ड दें देव ! मैंने अपराध किया है। चाहे मेरा सब कुछ चौपट हो जाता, पर मुझे आपका अपमान नहीं करना था।"

पूरी बात सुन चुकने के बाद राजा चन्द्रसेन शोकसागर में डूब गए। पथराई आँखों से गंगदत्त को देखने लगे। मंत्री सुबुद्धि आदि चिन्तित हो उठे। सबको गंगदत्त पर रोष था। पर कुछ कह नहीं सकते थे। अन्त में धैर्य रखकर राजा ने कहा—

"तुम निर्दोष हो गंगू ! दोष मेरे भाग्य का है। भाग्य को भी क्यों दोष दूं ? मैंने पुण्य ऐसे किये कि राजा बना और पाप भी ऐसा किया कि निपुत्री राजा बना। बारह व्याह कर लिये किन्तु सन्तान नहीं हुई। तुम ठीक कहते हो। निपुत्री

राजा मनहूस होता है। लेकिन मैं आज तुम्हारे अगले-पिछले सब अभाव दूर करूँगा। यह मेरी मनहूसियत का एक प्रायश्चित्त ही है। तुम अपने घर जाओ। तुम्हारे पीछे-पीछे ही अन्न, वस्त्र और धन से भरे छकड़े भिजवाता हूँ।"

खुशी-खुशी गंगदत्त अपने घर चला गया। राजा चन्द्रसेन ने ग्यारह-ग्यारह गाड़ियाँ हर तरह के अन्न—गेहूँ, यव, धान, चना आदि की भिजवाईं। कपड़े भी भिजवाये और मुद्रांकित रजतखण्ड तीन गाड़ी भरकर भिजवा दिये। इससे राजा को किंचित् संतोष तो मिला, पर मन का विषाद नहीं गया। सभा विर्सजित कर दी और एकान्त में बैठकर अपनी भाग्यहीनता पर बहुत सोचा। राजा ने मन-ही-मन कहा—'एक गंगदत्त की ही बात नहीं है, प्रजा के सभी जन मुझे मनहूस मानते हैं। यदि आज पता नहीं चलता तो गंगदत्त की मान्यता से भी तो मैं अनभिज्ञ ही रहता। अन्तर इतना है कि गंगदत्त के विचारों की मुझे जानकारी हो गई और अन्य लोगों के मन की बात जानने का अवसर नहीं आया। पर यह तो लोकविश्वास है, सो सभी यह सोचते होंगे कि चन्द्रसेन राजा मनहूस है। इस निपुत्री राजा का सवेरे-सवेरे मुंह नहीं देखना चाहिए। ऐसे में किस-किस को छकड़े दूंगा ? बार-बार छकड़े देने पर भी मेरा निपुत्री होने का कलंक तो मिट ही नहीं सकता।'

राजा ने पुनः सोचा—'अब मुझे नगर में रहने का कोई अधिकार ही नहीं। जब मेरी प्रजा मेरे मुखदर्शन से परहेज

करती है तो मैं चम्पापुरी में क्यों रहूँ ? अब नहीं रहूँगा।'

राजा ने निश्चय कर लिया। सब शासन-व्यवस्था विचक्षण मंत्री सुबुद्धि को सौंपकर राजा चन्द्रसेन जंगल चला गया। बारहों रानियाँ रोयीं। चम्पापुरी की प्रजा भी अपने भले राजा के लिए रोई और गंगदत्त भी खूब रोया। पर राजा ने सबको रोते छोड़ा और चला गया विपिन को। अन्तर इतना ही था कि वह वैराग्यभाव से मुनि बनकर नहीं गया था, बल्कि पुत्रेषणा के दुःख से दुःखी होकर ही गया था। वन में भी उसका घर, राज-पाट—सब माया-मोह उसके साथ गए थे। इसीलिए तो कहते हैं कि हर साधु वनवासी हो सकता है, पर हर वनवासी साधु नहीं होता। साधु बनने के लिए मन पहले है, वन बाद में।

जब राजा चन्द्रसेन वन को चला गया तो चम्पापुरी के लोग कहने लगे कि गंगदत्त और राजा में मनहूस तो गंगदत्त ही निकला। क्योंकि राजा ने भी तो सवेरे-सवेरे गंगदत्त का मुँह देखा था। गंगदत्त ने देखा तो उसे गाड़ियाँ भर अन्न-वस्त्र और रजतखण्ड मिले और राजा ने उसका मुँह देखा तो उसे वनवास मिला। इसी बात को लेकर तो वज्रमणि ने सुभगसिंह से कहा था कि सुभगसिंह ! महाराज चन्द्रसेन को सन्तान दुःख तो पहले भी था, पर अब तो वे गंगो किसान की मनहूसियत के कारण ही गए हैं। तुम्हें शायद पूरी बात मालूम नहीं, क्या चम्पापुरी में नहीं रहते ? इस पर सुभगसिंह ने कहा था—

"रहता भी हूँ और नहीं भी रहता। काम-काज के लिए बाहर भी जाना पड़ता है। हमारे राजा के वनगमन में गंगो किसान का क्या हाथ है, यह बात बताओ पहले।"

इस पर वज्रमणि ने सुभगसिंह को आदि से अन्त तक पूरा वृत्तान्त सुनाया। पर इससे हल क्या निकला? चर्चा से हल निकलता भी क्या है? दोनों अपने-अपने घर लौटे। सवेरे सुभगसिंह पोट लेकर कपड़ों की फेरी लगाने गया और वज्रमणि अपनी मूँगा-मोती, सीप आदि की दूकान खोलकर बैठा। अब तो महामंत्री सुबुद्धि ही राजा चन्द्रसेन की ओर से चम्पापुरी का शासन करते थे। प्रजा अब भी सुखी ही थी, पर राजा के दुःख से दुःखी भी थी। राजा के सन्तान न होने से प्रजा को अपने लिए भी यह चिन्ता थी कि उत्तराधिकारी के अभाव में जब चन्द्रसेन राजा परलोक सिधार जायेंगे, तब जाने कौन विदेशी राजा हम पर शासन करेगा। भाग्य की गति बड़ी टेढ़ी है। चम्पापुरी के राजा-प्रजा का भविष्य जाने क्या होगा? इसे तो दैव ही जाने। अब तो राजा चन्द्रसेन वनवासी थे और चम्पापुरी की प्रजा तथा राजा की बारहों रानियाँ वियोग-दुःख से दुःखी थीं। सामूहिक रूप से भी और व्यक्तिगत रूप से भी—संयोग-वियोग, हर्ष-शोक और सुख-दुःख प्रत्येक के जीवन में आते हैं। ये सब बारी-बारी से आते हैं तभी तो जीवन, जीवन है और संसार, संसार है। □

3

चम्पापुरी से लगभग चालीस योजन दूर एक रम्य वन नराधिप चन्द्रसेन ने अपना आवास बनाया। एक पुराने वटवृक्ष के नीचे की भूमि साफ कर ली। पास ही घोड़ा बांध दिया। घोड़े से आसन उतारकर तकिया बनाया और उत्तरीय बिछाकर लेट गया राजा। पास ही एक नदी थी, सो जल की सुविधा थी। भोजन के लिए कन्दमूल-फल थे। ऐसा जीवन बहुत सुखी होना चाहिए था, लेकिन राजा के मन में चिन्ता थी। लेटा-लेटा राजा चन्द्रसेन सोच रहा था—'अपमान के जीवन से तो यह जीवन ही बहुत अच्छा है। सन्तानहीनता क्या मेरा दोष है? प्रजा के लिए मैं अपने सुख-चैन को कुछ नहीं समझता था। जन-जन का दुःख-सुख जानने के लिए मैं रात को वेश बदलकर चम्पापुरी की गलियों के चक्कर काटा करता था और वही प्रजा मेरा प्रभात मुख-दर्शन अशुभ समझती है। लेकिन जंगल में कब तक रहूंगा? कर्मों ने मुझे यहां पटक दिया। वाह रे कर्म! तुम ऐसे हो? लेकिन दोष मेरा हुआ, क्योंकि कर्म का कर्ता तो मैं ही था। मैंने खोटे कर्म किये ही क्यों?' सोचते-सोचते राजा ने करवट बदली और पुनः सोचा—'अब मैं अपनी कुलदेवी की आराधना करूंगा। निराहार रहकर ऐसा तप करूंगा कि देवी को विवश कर

दूंगा कि वह मुझे एक पुत्र होने का वरदान तो दे ही दे। कल सवेरे से नियमपूर्वक उपासना करने बैठूंगा।'

इसी तरह सोचते-सोचते राजा सो गया। थका-हारा था, सो नींद गहरी आई। नींद भी एक सुख है। निद्रावस्था में मनुष्य अपने आत्मस्वरूप के निकट रहता है और उतनी देर के लिए चिन्ताओं से मुक्त हो जाता है। लेकिन स्वप्नवत् संसार के स्वप्न उसे नींद में भी हर्ष-शोक प्रदान करते हैं। राजा चन्द्रसेन भी एक सपना देखने लगा।

दिव्य आभूषण और वस्त्रों से सजी दिव्य रूप वाली एक देवी ने राजा चन्द्रसेन से कहा—

"राजन्! मैं तेरी कुलदेवी हूं। तेरी वंश-वृद्धि की कामना करना मेरे लिए स्वाभाविक है। लेकिन देवी-देवों की शक्ति-सामर्थ्य सीमित होती है। मेरी भी है। समय से पहले कुछ नहीं होता। रावण का वध सीता के निमित्त से होना था, फिर भी उसकी आयु के शेष वर्षों के कारण राम को उतने वर्ष वन में भटकना पड़ा। समय से पूर्व रावण की मृत्यु नहीं हो सकी थी। अब सन्तान-प्राप्ति में बाधा बनने वाले तुम्हारे कर्मों का अन्त हो चुका है और तुम्हारे पुण्य उदित होने वाले हैं। अतः अब तुम मेरी भविष्यवाणी पर विश्वास करके विषाद त्यागो। क्योंकि निकट भविष्य में ही तुम दो सन्तानों के पिता बनोगे।

"राजन्! अब तुम्हें मेरी आराधना-उपासना करने की आवश्यकता नहीं है। अब तो तुम वही करो, जो मैं कहूं।

यहाँ से पचास योजन आगे दक्षिण दिशा की ओर जाओ वहाँ एक वन मिलेगा। उस वन में एक वापी है। उस वापी में एक नागकन्या रहती है। उसका जन्म तुम्हारी पत्नी बनने के लिए ही हुआ है। विधि संयोग से उसका नाम भी चन्द्रावती है।"

"राजन् ! नागकन्या चन्द्रावती का पिता मणिधर नाग है। मणि लेकर वह सर्प का रूप धारण करके रात को वन में विचरण करता है। पहले तुम उसकी मणि को कब्जे में करना और फिर वापी में पैठना। मणि-प्रभाव और प्रारब्ध-योग से चन्द्रावती तुम्हारा वरण करेगी। उसे लेकर तुम चम्पापुरी लौटना। उसी से तुम्हारे सन्तान होगी।"

राजा ने एकचित्त होकर देवी की वाणी सुनी और कुछ पूछने को जैसे ही मुँह खोला कि देवी अन्तर्धान हो गई। राजा ने मातेश्वरी ! मातेश्वरी ! ! कहकर पुकारा कि उसकी आँख खुल गई। कहीं कुछ नहीं था। महज एक सपना ही था। पास ही बँधा घोड़ा हिनहिना रहा था। सवेरा होना चाहता था। राजा उठकर बैठ गया और सोचने लगा—'तो क्या इस सपने पर विश्वास करूँ ? करना चाहिए। देवी-देव सपने में भविष्य का पूर्वसंकेत देते हैं। मैं कुलदेवी की आराधना का संकल्प लेकर सोया था, इसीलिए तो उसने सपने में मुझे सब कुछ बता दिया। यदि सपना सच्चा ही है तो दक्षिण-वन में वापी अवश्य मिलेगी और मणिधारी सर्प भी रात को मिलेगा।'

सवेरा हो गया। पक्षी चहकने लगे। राजा उठकर सरिता तट पर गया। नित्यकर्म से निवृत्त होकर धर्म की वाह्य क्रियाएँ कीं। वंश-परम्परा से वह निर्ग्रन्थधर्म का अनुयायी था, इसलिए जप-तप करता तो था, पर धर्म को पूरी तरह धारण नहीं कर पाया था। क्योंकि यदि कर पाता तो वनखेलन के मिथ्या विचार को त्याग देता। जो भी हो, अच्छी बातें भी संस्कारों से उतरती हैं। बहुत-से मांसाहारी भी भजन-पूजन करते हैं। उन्हें कौन समझाये कि मन को—हृदय-मस्तिष्क को बदले बिना सब धर्म-क्रियाएँ व्यर्थ हैं। मुख्य तो मन-मस्तिष्क को बदलना है।

सबसे निवृत्त-निश्चिन्त होकर राजा चन्द्रसेन घोड़े पर सवार हुआ और दक्षिण दिशा की ओर चल दिया। पचास योजन की यात्रा क्या एक दिन में हो जाती ? शाम तक जितना चला जाता, चलता। किसी भी उपयुक्त स्थान पर रात बिताता और सवेरे फिर चल देता। इसी तरह कई दिनों में वह देवी द्वारा इंगित वन में पहुँच गया। वन सघन था। ऐसा कि दिन में भी संध्या का-सा झुट-पुटा रहे। कहीं-कहीं जहाँ पेड़ छितरे थे, छनकर धूप आती थी। राजा ने घूम-फिर कर वापी भी ढूंढ़ ली और एक वृक्ष के नीचे—वापी से दूर घोड़ा बाँध दिया। पेड़ के नीचे लेट गया राजा। आज रात को तो जगना था, क्योंकि जागने वाले ही पाते हैं। सोने वाले तो सदा ही खोते हैं। और कुछ नहीं तो समय खोते हैं—जीवन की श्वासें ही खो देते हैं। यह सब इसलिए

भी कि संसार में चलने के लिए दो चरण चाहिए—पाने के साथ खोना भी। यदि खोना नहीं तो पाना कैसा ? यहाँ सव जोड़े से है। सुख के साथ दुःख भी है। इसी द्वन्द्व को मिटाने के लिए तो धर्म है। धर्म से ही जन्म-मरण का द्वन्द्व मिटता है। फिर न कुछ पाना होता है और न खोना।

दिन में राजा कुछ देर सोया और जव पक्षियों का टुट-टुट, टी-टीरव वन्द हो गया तो संध्या हो गई। रात के चरण पड़े। राजा चौकन्ना होकर वैठ गया और इधर-उधर देखने लगा। जव अँधेरा गहरा हो गया तो दूर पर आलोक दीखा। यह आलोक मणि का था। एक स्थान पर सर्पमणि रखी थी और जहाँ तक उसका प्रकाश फैला था, उसी की सीमा-परिधि में मणिधर सर्प विचरण कर रहा था। राजा उठा और दवे पांव प्रकाशपुंज की ओर वढ़ा।

एक शिला पर सर्पमणि रखी थी। उसके प्रकाश से आँखें झपक जाती थीं। राजा ने अचक से मणि उठाई और उसे लेकर झटपट पेड़ पर चढ़ गया। सावधानी से मणि को वस्त्रों में लपेट लिया। वन में जो प्रकाशवृत्त फैला था, वह लुप्त हो गया। मणिधर सर्प वड़ी तेजी से प्रकाश लुप्त होते ही दौड़ा और यथास्थान आकर शिला पर फन पटकने लगा। मणि खोने से उसका तेज-वल क्षीण हो चुका था। निराश-हताश होकर सर्प ने मानववाणी में कहा—

"मेरा जीवन तो इस मणि के ही अधीन था। अव शेप जीवन तो मैं यों ही तड़प-तड़प कर पूरा करूँगा। जिसने भी

मेरी मणि को लिया है, वह मेरे सामने आ जाए, ताकि मैं अपनी कन्या का हाथ उसके हाथ में देकर निश्चिन्त हो जाऊँ।"

सर्प की वाणी से आश्वस्त होकर राजा चन्द्रसेन नीचे उतरा। उसके पुण्य-प्रभाव से बलक्षीण सर्प ने उसे प्रणाम किया और बोला—

"निश्चय ही तुम कोई राजा हो। अब मैं तो अपना जीवन इसी वन में बिताऊँगा, तुम मणि लेकर वापी में जाओ। मणि के प्रभाव से वापी के अथाह जल में तुम निर्विघ्न मेरे भवन तक पहुँच सकोगे। वहाँ मेरी दुहिता चन्द्रावती तुम्हें मिलेगी। मेरी यह मणि ही मेरी अनुमति का प्रमाण होगी। चन्द्रावती के साथ विवाह करके उसे सनाथ करो।"

सर्प-वाणी सुन नराधिप चन्द्रसेन ने मन ही मन अपनी कुलदेवी का स्मरण किया। अब उसे अपने सपने पर पूरा भरोसा हो गया था। जब पुण्य प्रकट होते हैं तो सब कुछ अनुकूल होता है। मणि लेकर राजा वापी में पैठा। पानी में होते हुए वह बहुत गहराई में उतर गया। आगे जाकर सीढ़ियाँ मिलीं। उन सीढ़ियों से होते हुए वह एक भव्य भवन में पहुँचा। स्वर्णमण्डित सिंहासन पर नागकन्या चन्द्रावती बैठी थी। उससे रूप का सौरभ झर रहा था। बहुत सुन्दर थी चन्द्रावती। चार दासियाँ दाएँ-बाएँ आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़ी थीं। पीछे खड़ी दो चँवर ढोर रहीं थीं। उस बाला के पास धनुष-बाण भी रखे थे। राजा चन्द्रसेन को देख वह पहले

तो चकराई। फिर कुछ मोहित भी हुई और अन्त में क्रुद्ध भी हो गई। अपना धनुष उठाते हुए बोली—

"ठहरो ! कौन हो तुम ? मेरा बाण तुम्हारे प्राण लेने में समर्थ है। लेकिन तुम्हें मारने से पहले मैं तुम्हारे दुस्साहस का कारण जानना चाहती हूँ।"

राजा बोला—

"सुन्दरी ! मेरे हाथ में अपने पिता की यह मणि देखकर तुम सोच सकती हो कि मुझे मारना इतना आसान नहीं है, जितना तुम समझ बैठी हो। फिर भी मुझ जैसों को मारने के लिए तुम्हारी चितवन का बाण ही पर्याप्त है।"

"ओह मेरा पिता !........।" कहते-कहते चन्द्रावती मूर्च्छित हो गई। राजा उसके निकट आ गया। दासियों ने उसका शीतलोपचार किया। राजा ने भी अपने उत्तरीय से हवा की। चन्द्रावती की मूर्च्छा दूर हुई तो एकटक राजा की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखने लगी। राजा उसके शोक का कारण जानता था, अतः बोला—

"सुलोचने ! हर बेटी एक-न-एक दिन अपने पिता से दूर होती ही है। तुम उनके लिए शोक मत करो। उनकी आज्ञा-अनुमति से ही मैं तुम्हारे साथ विवाह करने आया हूँ।"

चन्द्रावती बोली—

"विधाता के विधान को कौन मिटा सकता है ? विधि प्रेरणा से ही आप यहाँ आये हैं। अतः दैव के इस प्रसाद को मैं सिर-आँखों पर चढ़ाती हूँ।"

इतना कहकर चन्द्रावती सिंहासन से उठ खड़ी हुई और आग्रह करके राजा को सिंहासन पर बैठाया और स्वयं चरणों में बैठ गई। राजा ने उसे हाथ पकड़कर उठाया और सिंहासन से एक ओर सरकते हुए बोला—

"प्रिये ! तुम्हारा स्थान यहाँ मेरे बराबर है, वहाँ नीचे नहीं।"

चन्द्रावती बोली—

"मैं तो आपकी चरणदासी हूँ। अतः पहले चरणों में रहूँगी और पति की प्रसन्नता के वरदान से ही उनके वामांग आऊँगी।"

इतना कह सखियों से बोली—

"सखियो ! पंचवर्णी पुष्पों की दो मालाएँ लाओ।"

थोड़ी ही देर में पुष्पमालाएँ भी आ गयीं। दोनों ने एक-दूसरे के कण्ठ में डालकर गान्धर्व विवाह किया। फिर चन्द्रसेन और चन्द्रावती एक ही आसन पर बैठे। गान्धर्व विवाह हो गया दोनों का। अब दोनों पति-पत्नी हो गए। दैव की यह कैसी विचित्र माया है कि दो अनजान प्राणी—बहुत दूर और सर्वथा अज्ञात रहते हुए भी एक-दूसरे के मन-प्राण के साथी हो जाते हैं। चन्द्रसेन और चन्द्रवती भी दो देह, एक प्राण बनकर रहने लगे। उनके रात-दिन मधुर बीतने लगे। रातें दिन से भी अधिक मधुर होतीं। यह सब समय की ही बात थी कि रात कटे और दिन आये की प्रतीक्षा करने वाले राजा-रानी सोचते थे कि कब दिन बीते और कब रात

आये। और जब रात आती तो चन्द्रावती कहती कि यदि ऐसा होता कि रात कभी न बीतती तो कितना अच्छा होता। इस पर राजा चन्द्रसेन कहते—कभी न बीतती रात, यह तो अच्छा होता ही, पर अब तो इतना भी नहीं होता कि रात देर तक ही चले। बहुत जल्दी बीतती हैं हमारी रातें। बातों में ही बीत जाती हैं।

यह सब इन्द्रिय-सुख की ही बलिहारी है कि युवक-युवती अथवा नवविवाहित दम्पती कभी न बीतने वाली लम्बी रातों की कामना करते हैं। लेकिन एक दिन भोगों से सब का मन ऊबता है। सभी जानते हैं और अनुभव भी करते हैं कि इन्द्रियों से प्राप्त सभी सुख खण्डितसुख हैं। सभी क्षणभर के हैं। सुस्वाद मिष्टान्न का सुख भी कुछ क्षणों में खण्डित हो जाता है। भोगसुख भी तो ऐसा ही है। संसार के हर सुख के गर्भ में दुःख की परिणति है। फिर भी मानव जागत नहीं। बहुत-से तो जागते हुए भी सोते हैं। कुछ ही तो ऐसे हैं, जो अखण्ड आनन्द की ओर बढ़ते हैं। राजा चन्द्रसेन भोग-सुखों में इतना डूब गया कि अब चम्पापुरी को बिल्कुल ही भूल गया।

वापीमहल में रहते हुए राजा चन्द्रसेन को छह महीने बीत गए। चन्द्रावती गर्भवती हुई। अब राजा को चम्पापुरी की याद आई सो बोला—

"प्रिये ! अब अपने देश चलें।"

चन्द्रावती का स्थानमोह जाग्रत हुआ। बोली—

"यहाँ क्या कुछ कष्ट है आपको ?"

"प्रिये ! वहाँ भी तो तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। आखिर एक-न-एक दिन तो हमें अपने राज्य में जाना ही है।"

चन्द्रावती बोली—

"मुझ जैसी आपके बारह और भी हैं। वहाँ जाकर बारह दिन तक आपका वियोग सहना पड़ेगा।"

"एक दिन का भी वियोग नहीं सहना है तुम्हें।" राजा बोला—"तुम जैसी एक भी नहीं है, उन बारहों में। उन बारह के होते हुए भी मुझे स्वदेश छोड़ना पड़ा और एक तुम्हारे कारण पुनः चम्पापुरी जाने का उत्साह जागा।"

कुछ देर मौन रहकर राजा ने पुनः कहा—

"सन्तानहीन होने के कारण प्रजा के लोग मेरा प्रभात-दर्शन अशुभ मानते थे। अब तो मैं पिता बनूंगा। तुम्हारे गर्भ में मेरा तेज पल रहा है।"

चन्द्रावती लजा गई। बोली—

"मुझे भूल मत जाना। यही विनती है नाथ ! सौतों की ईर्ष्या बड़ी घातक होती है।"

राजा बोला—

"वे बारहों भी तो परस्पर सौतें हैं। जब वे बारह मिल कर रह सकती हैं तो क्या तुम तेरह नहीं रह सकतीं ?"

चन्द्रावती बोली—

"रह क्यों नहीं सकतीं ? पर मेरा पुत्रवती बन जाना उन्हें सहन नहीं होगा। आप देख लेना, वे मुझे सहन नहीं कर

पायेंगी।"

राजा ने अपना निश्चय सुनाया—

"चिन्ता मत करो। हम दोनों अलग भवन में रहेंगे। सम्मिलित अन्तःपुर में तुम्हें रहना ही नहीं है।"

निश्चय हो गया। वापीभवन से पर्याप्त रत्न, दासियाँ और विशेषरूप से नागमणि लेकर चन्द्रसेन और चन्द्रावती ने चम्पापुरी के लिए प्रस्थान किया। कुछ दिनों में दोनों यथासमय चम्पापुरी पहुँच गए। मन्त्री सुबुद्धि आदि ने राजा का भव्य स्वागत किया। राजा चन्द्रसेन के नये विवाह और नई रानी के गर्भवती होने का संवाद विद्युत्‌गति से नगरी में फैल गया। प्रजा ने खुशियाँ मनायीं। राजा चन्द्रसेन अपने उद्यानस्थित भवन में ही ठहरा—राज-भवन नहीं गया। बारहों रानियाँ वहीं अपने प्रियतम से मिलने आईं। भाग्यशालिनी चन्द्रावती से भी वे बड़े प्रेम से मिलीं। पर भीतर ही भीतर जल-भुन गयीं सब।

राजा ने रानी चन्द्रावती के लिए सब सुविधाएँ जुटा दीं। पर्याप्त दासियाँ रखीं। साथ ही एक विशेष व्यवस्था करने के बाद चन्द्रावती से कहा—

"प्रिये! वैसे तो मैं रात-दिन तुम्हारे पास ही रहूँगा। लेकिन दिन में राजसभा भी जाना पड़ेगा। क्योंकि राजा का कर्तव्य प्रजा के प्रति पहले है। मैंने तुम्हारे भवन में एक नगाड़ा रखवा दिया है। जब भी मुझे बुलाने की जरूरत पड़े, दासी से कहकर नगाड़ा पिटवा देना। हजार काम छोड़कर मैं

आ जाया करूँगा। क्योंकि यदि तुम मुझे बुलाने किसी सेवक को भेजा करोगी तो देर हो जाया करेगी।"

मुस्कराकर चन्द्रावती बोली—

"यदि मैंने यों ही—मात्र आपके दर्शनों के लिए ही नगाड़ा बजवा दिया तो आप झुँझलायेंगे तो नहीं?"

राजा ने रानी को वक्ष से सटाते हुए कहा—

"तुम्हें सौतों से दूर रखने का मैंने निश्चय किया है और मेरे साथ यदि झुँझलाहट रहे तो वह भी तो तुम्हारी सौत होगी। फिर में झुँझलाहटरूपी तुम्हारी सौत को कैसे आने दूंगा अपने पास?"

राजा के वक्ष पर सिर टिकाये रानी बोली—

"जाने क्यों, मुझे कभी-कभी दैव से बड़ा डर लगता है।"

"डरना स्त्रियों का स्वभाव है। मेरे रहते तुम्हें डरना नहीं चाहिए। लेकिन तुम तो वीरांगना हो। याद है, पहले दिन मुझे मारने के लिए तुमने धनुष उठाया था?"

रानी झेंप गई और बोली—

"इतनी पुरानी बात भी आप भूले नहीं हैं? आपकी परीक्षा तो लेनी ही थी।"

"अब छोड़ो इन बातों को।" राजा बोला—"रथ तैयार खड़ा है। राजसभा जाने का समय हो गया है।"

"जल्दी लौटना, नहीं तो नगाड़ा बजा दूंगी।"

हँसकर रानी ने राजा को विदा किया। चम्पापुरी आये

रानी चन्द्रावती को दो महीने बीत गए थे और उसे शिशुवती बनने के लिए अब छह महीने ही शेष थे। एक महीना मार्ग में ही लग गया था। अब तो चम्पापुरी की प्रजा, राजा चन्द्रसेन और रानी चन्द्रावती गर्भ के नौ महीने पूरे होने की प्रतीक्षा कर रहे थे। यह अवधि यदि किसी को चिन्तित और दुःखी कर रही थी तो वे थीं—चन्द्रसेन की बारह बड़ी रानियाँ। समय नौ महीनों की पूर्णता की ओर बढ़ रहा था। □

4

सुभामा, वामा, अलका, मदनध्वजा आदि बारहों रानियाँ एकान्त में बैठीं अपने भविष्य की चिन्ता-चर्चा कर रही थीं। सुभामा पटरानी थी। उसने सबसे कहा—

"बहनो! मैं तो अब नाम की ही पट्टमहिषी हूँ। मेरा अस्तित्व डगमग हो ही रहा है। लेकिन हम सब एक ही नाव में बैठी हैं। एक दिन ऐसा अवश्य आयेगा, जब बैरिन चन्द्रावतीरूपी भँवर में हमारी नाव डूबेगी।"

अलका बोली—

"ऐसे साहस हारोगी तो कैसे काम चलेगा? राजभवन में आज भी आपका शासन है। प्रजा में भी ऐसा कौन है, जो पट्टमहिषी सुभामा की आज्ञा टाल सके?"

"इससे क्या होगा?" सुभामा बोली—"मैं सबकी बात कहती हूँ। रानी वही है जिसे राजा चाहे। आज हम क्या हैं, इस पर विचार करो। प्रजा के लिए हम रानियाँ हैं, पर अपने राजा के लिए....?"

"उपेक्षिता और परित्यक्ता।" अलका ने

और पुनः बोली—"चिन्ता आज की नहीं है,

अब तो दो ही महीने शेष हैं। चन्द्रावती

हम पूरी तरह से परित्यक्ता बन जायेंगी।

चन्द्रसेन और चन्द्रावती की धूम है, कल दिग्दिगन्त में यही दो नाम गूंजेंगे।"

मदनध्वजा बोली—

"इस चर्चा से कुछ न होगा। हमें करना यह है कि चन्द्रावती को मिटा दें।"

"उसे क्यों, उसके अस्तित्व को ही मिटाना है।" सुभामा ने कहा—"जब उस चहेती का अस्तित्व ही मिट जायगा, तब वह स्वयं ही मिट जायगी।"

"लेकिन कैसे?" मदनध्वजा ने पूछा।

सुभामा ने उत्तर दिया—

"इसका उपाय भी मैंने सोच लिया है। सुलखा को पटाना होगा। उसी पर हम सबकी आशाएं टिकी हैं। चन्द्रावतीरूपी भँवर में फँसी हम बारहों की नाव को निकालने वाली मात्र सुलखा ही पतवार है।"

कुछ देर सन्नाटा रहा। कोई कुछ नहीं बोली। सब सुभामा की योजना सुनने के लिए ही उत्सुक थीं। सबको मौन देख सुभामा महिषी ने पुनः कहा—

"बहनो! पहले पूरी बात सुन-समझ लो। सुलखा चम्पापुरी की एकमात्र दाई है। बड़े-बड़े श्रेष्ठिघरों में वही प्रसव कराती है। छोटे घरों की किसान-मजदूर महिलाएं तो अपने अनुभव से प्रसव कर लेती हैं। उनके घर की बड़ी-बूढ़ियाँ दाई का काम करती हैं। लेकिन बड़े घरों में सुलखा पुजती है। वह अपने काम में चतुर भी बहुत है। गर्भ देखकर

ही बता देती है कि लड़का होगा या लड़की। उसे पर्याप्त धन देकर पटाना होगा। चन्द्रावती का प्रसव कराने भी वही बुलायी जायेगी। अब आगे की बात फिर होगी, क्योंकि दीवारों के कान होते हैं।"

अलका बोली—

"लेकिन सुलखा दाई को बुलाकर बात तो कर ली जाय?"

"अभी नहीं।" पटरानी ने कहा—"व्यर्थ सन्देह होगा। किसी और समय अवसर देखकर उसे बुलाया जायगा, आज नहीं।"

इतने निर्णय-निश्चय के बाद ही इन ईर्ष्यालु रानियों की सभा विसर्जित हो गई। इधर राजा चन्द्रसेन ने मन्त्री सुबुद्धि से पूछा—

"मन्त्रिवर! महारानी चन्द्रावती का प्रसवकाल निकट आता जा रहा है। देखना तुम, उस दिन ऐसा उत्सव मनाऊँगा कि पीढ़ियों तक याद रहे। महारानी के प्रसव के लिए दाइयाँ किस देश से बुलाओगे?"

मन्त्री ने कहा—

"राजन्! अपनी चम्पापुरी की सुलखा तो प्रसव कराने बाहर भी जाती है। उसकी चेरियाँ भी अतिकुशल हैं। उसके रहते आप महारानी के प्रसव की चिन्ता न करें।"

"ठीक है, पर पहले उसे बुलाओ तो। मैं उससे बातें करूँगा।"

"हाँ, उसे पहले बुलाना चाहिए। वह इतनी अधिक अनुभवी है कि गर्भ देखकर ही वता देती है कि लड़का होगा या लड़की ?"

"तो फिर देर क्यों ?"

मंत्री ने तुरन्त एक प्रतिहारी सुलखा को बुलाने भेजी। चन्द्रसेन राजा के उद्यान भवन में सुलखा आई। महाराज को प्रणाम करके बोली—

"स्वामी ! आपके विना वताये ही मैं जान गई हूँ कि दासी को क्यों बुलाया है। पहले कहे देती हूँ कि युवराज की तौल के वरावर सोना लूंगी।"

"इसकी क्या वात कही तूने ?" अपने कंठ का हार उतारते हुए राजा चन्द्रसेन ने सुलखा की गोद में फेंकते हुए कहा—"अभी से प्रारम्भ करता हूँ। सुलखे ! इतना दूंगा कि तुझे वस कहना पड़ेगा। एक वार में जितने सुवर्णखण्ड वाँध कर ले जा सके, ले जाना। अव भीतर जा और महारानी का परीक्षण करके वता कि राजपुत्र होगा या राजकन्या।"

सुलखा भीतर गई। महारानी चन्द्रावती को प्रणाम करके नीचे वैठ गई। दो दासियाँ महारानी के पास खड़ी थीं। सुलखा ने उन्हें आदेश दिया—

"थोड़ी देर के लिए तुम दोनों वाहर जाओ।"

जव दासियाँ वाहर चली गई तो सुलखा ने महारानी के गर्भ का निरीक्षण करके कहा—

"स्वामिनी ! आप एक साथ दो सन्तानों को जन्म

देंगी ।"

"दो ?" आश्चर्य से बोली चन्द्रावती—"दाई माँ ! मैं कैसे बच पाऊँगी ?"

सुलखा ने आश्वासन दिया—

"घबराओ मत ! जो विधाता गाँठ लगाता है, वही खोलता भी है। अभी तो समय है। पन्द्रह दिन पहले ही मैं आपके पास सोना शुरू कर दूंगी।"

रानी चन्द्रावती को धीरज बँधा। सुलखा बाहर गई और मुस्कराते हुए महाराज से बोली—

"स्वामी ! यह नहीं बताऊँगी कि कन्या होगी या पुत्र। पर इतना बताती हूँ कि आप एक साथ दो सन्तानों के पिता बनेंगे।"

इतना कहते ही सुलखा अपने घर की ओर चली गई।

सुभामा की एक गुप्त दासी चन्द्रावती की दासी की सखी थी, वह चन्द्रावती के भवन की जानने योग्य बातें मालूम करके अपनी स्वामिनी सुभामा को बताती रहती थी और इसके लिए अतिरिक्त धन भी पाती थी। आज की सब बातें उसने स्वामिनी सुभामा तक पहुँचा दीं और सुभामा ने सबके सो जाने पर गुप्त-मार्ग से सुलखा को अपने भवन में बुलवाया। उस समय उसके कक्ष में मदनध्वजा और अलका—ये दो रानियाँ और थीं।

सुभामा ने सुलखा से भूमिका बनाते हुए कहा—

"सुलखे ! दूसरों का प्रसव कराते-कराते तेरी उमर

बीत गई। पर हमारी ही तरह तू भी प्रसव-पीड़ा नहीं जानती। दैव की लीला बड़ी विचित्र है।"

गम्भीर होकर सुलखा बोली—

"महारानी ! कहावत भी तो है कि नाईन सबके पैर धोती है, पर खुद के पाँव गन्दे ही रहते है। चिकित्सक स्वयं औषध नहीं खाते, दूसरों को खिलाते हैं। आज आपने मेरा पुराना दुःख कुरेद दिया। मैं तो तरुणाई में ही विधवा हो गई थी। प्रसव-पीड़ा नहीं जानती और पति का सुख भी नहीं जानती। आपकी मेरी क्या तुलना ? आप महारानी हैं और मैं एक साधारण दाई। दूसरे आप सुहागिन हैं और मैं विधवा।"

आँखों में आँसू लाते हुए सुभामा बोली—

"सुलखा ! आज तो हम तुझसे भी ज्यादा दुखी हैं। हमारा भविष्य तो और भी अन्धकारमय है। दुखिया ही दुखिया का दुःख जान सकती है। अब तो हमारी नैया तेरे ही हाथों पार लगेगी।"

सुभामा का बाण लक्ष्य पर ही लगा। सुलखा चतुर दाई तो थी, पर ईर्ष्यालु सौत नहीं थी, इसलिए सुभामा की चाल नहीं समझ पाई और उसे आश्वासन दे बैठी। इसी आश्वासन-सूत्र को पकड़कर सुभामा ने अब स्पष्ट करके कहना शुरू किया—

"सुलखे ! निकट भविष्य में ही चन्द्रावती पुत्रवती बनेगी और हमारी दुर्दशा होगी। अब यह तेरे ही हाथ में है

कि चन्द्रावती की सन्तान होते ही नष्ट कर दी जाए। चिन्ता मत करना। तेरा कुछ नहीं बिगड़ेगा। मैं तुझे अपने रत्न-जटित सब आभूषण दे दूंगी। हम बारहों ही तुझे देंगी। तेरा समस्त जीवन बड़े आराम से कट जायगा। हमारे दुःख को दूर करने के लिए तुझे यह करना ही होगा और....।

"बस-बस महारानीजी बस !" सुलखा ने अपने दोनों हाथ दोनों कानों पर रखकर कहा—"ऐसा अनर्थ मैं कभी नहीं करूंगी। धन से सुखी रहने की भी एक निश्चित सीमा है। जितना गुड़ डालो, उतना ही अधिक मीठा होता है। लेकिन गुड़ डालते-डालते, जब सब गुड़ ही हो जाय तो और अधिक गुड़ से भी अधिक मीठा क्या होगा ? रत्न-स्वर्ण से मैं अपनी भूख तो मिटा नहीं सकती। वह तो रोटियों से ही मिटेगी। जब प्रसव कराने के बदले महाराज ही मुझे इतना धन दे रहे हैं, जितना कि मैं एक बार में ले जा सकूं तो बुरे काम का धन क्यों लूं ?

"महारानीजी ! पिछले जन्म में मैंने कुछ अशुभ कर्म किये होंगे, तभी तो इस जन्म में, मैं तरुणाई में विधवा बनी और दाई होकर भी मां नहीं बनी—प्रसव की पीड़ा नहीं जान पाई मैं। मुझे क्षमा करो। यह अधर्म मुझसे न होगा।"

कहते-कहते सुलखा, महिषी सुभामा के पैरों में गिर पड़ी। सुभामा भयभीत हो गई। उसने कनखियों से मदन-ध्वजा और अलका की ओर देखा। भण्डा फूट जाने से वे भी भयभीत थीं। मन-ही-मन महिषी सुभामा ने सोचा—'यह तो

और भी अनर्थ हो गया। सुलखा उलटी पड़ गई। यह हमारे षड्यंत्र में शामिल नहीं होगी तो इसके बिना कुछ नहीं होगा-यदि इसने महाराज से कह दिया तो····?'

सोच-विचार करके सुभामा ने सुलखा को अपने पैरों पर से उठाते हुए कहा—

"सुलखा ! देख यहाँ हमारे अलावा कोई नहीं है। मैं कठोर भी इतनी हूँ कि तेरे शव का भी पता नहीं चलेगा। इन्कार का अर्थ प्राणों से हाथ धोना है, यह निश्चित जान ले। यदि तू अपने हाथों से चन्द्रावती की सन्तान को न मारना चाहे तो मत मार। पर यह सिद्ध करना होगा कि उसने कंकड़ पत्थर का प्रसव किया है।"

सुलखा भयभीत हो गई। प्राण सभी को प्यारे होते हैं। वह जानते हुए भी कि एक दिन मरना अवश्य है, लोग अपने प्राण बचाने के लिए जो न करें सो थोड़ा है। सुलखा मौन हो गई। उसे मौन देख सुभामा उठी और अपने रत्नाभूषणों की मंजूषा सुलखा के सामने पटक दी। अलका और मदनध्वजा भी अपने-अपने आभूषण ले आईं। सब मूल्यवान थे, इतने कि सुलखा के सात जन्म कट जाएँ। भय से दबी सुलखा को अब लोभ ने भी दबा लिया। मन में विचार उठा—'यदि मैं सकुशल प्रसव कराती तो महाराज इतने सुवर्णखण्ड देते, जितने कि मैं एक बार में ले जा सकती। लेकिन मैं बूढ़ी कितने ले जाती ? ये बारहों रत्नजटित आभूषण देंगी। यह बहुत होगा। महाराज की ओर से मिलने वाला धन तो मारा

गया।....चन्द्रावती की सन्तान को मैं अपने हाथ से नहीं मारूँगी। कहीं खड्ड-खण्डहर में डाल दूँगी। मरेंगे, मर जायेंगे और बचेंगे तो बच जायेंगे। अब तो यह काम करना ही पड़ेगा।'

सुलखा रत्नाभूषणों से भरी तीनों मंजूषाओं को देख रही थी। सुभामा ने कहा—

"इन्हें उठा सुलखे! अभी तो और सब भी देंगी। इन्हें उठा और वचन दे।"

सुलखा अब पूरी तरह दब गई थी। वचन दिया—

"आपका काम करूँगी। ऐसा करूँगी कि चन्द्रावती एक दिन काग उड़ाने वाली परित्यक्ता बन जायगी और आप अपने खोये स्वामी को पुनः पा सकोगी। लेकिन यह रहस्य, रहस्य ही रहे, एक बार को आप तो बच भी जायेंगी, पर मेरा बचना असंभव ही होगा।"

"तू चिन्ता क्यों करती है सुलखे।" मदनध्वजा ने कहा—"इस रहस्य को रहस्य बनाये रखना तो हमारे हित में भी है।"

सुभामा बोली—

"ये आभूषण तू ले जा। शेष सब मेरी दासी पहुँचाती रहेगी। इतने ही तू मुश्किल से ले जा सकेगी। अब जा। रात अँधेरी है। काली चादर अवश्य ओढ़ लेना।"

षड्यंत्र का बीज बो दिया गया। इस बीज से जो वृक्ष उगेगा, उसका फल होगा, चन्द्रावती की सन्तान का विनाश

अथवा कुछ और, साथ ही चन्द्रावती का सुहागवती से दुहागवती बन जाना। 'प्रश्न है, यह बीज किसने बोया।' महिषी सुभामा ने? नहीं। तो फिर शेष ग्यारहों ने? इन्होंने भी नहीं। फिर तो सुलखा दाई ने ही बोया? उसने भी नहीं। प्रश्न उलझ गया। सुलझाने वाले ज्ञानियों ने सुलझाया। चन्द्रावती ने बोया था, यह बीज। उसने पूर्वभव में ऐसे कर्म-बीज बोये थे, तभी तो सुलखा और सुभामा के निमित्त से उसके कृतकर्मों का फल उदित होने जा रहा था। बाहरी कारण बहाने हैं और भोक्ता, इन्हें ही देखता है। लेकिन भोक्ता ही कर्त्ता बनकर अपने लिए शुभाशुभ कर्मों का बीज वपन करता है और फिर कभी हँसकर तथा कभी रोकर काटता है।

× × ×

सुलखा ने महाराज चन्द्रसेन और महारानी चन्द्रावती से जो-जो बातें की थीं, उन पर नये सिरे से विचार किया—'मैंने महाराज को यह नहीं बताया कि महारानी के पुत्र होगा या पुत्री। केवल यही कहा है कि एक साथ दो सन्तानें होंगी। अब अगहन-पौष का महीना आने वाला है। तभी चन्द्रावती का प्रसव होगा और इन्हीं दिनों कुतिया बच्चे देती है। मैं कुतिया के बच्चे कहीं से ले आऊँगी। अभी से ध्यान रखूँगी। बात तो अनहोनी होगी, पर असंभव नहीं होगी। कहानियों में सुना है कि बहुत-सी स्त्रियाँ विजातीय शक्ल के बच्चों को जन्म देती हैं। किसी के बन्दर का बच्चा होता है।'

कोई-कोई गणेशजी जैसे गजमुख बालक को जन्म देती हैं। काम बन जायगा। चन्द्रावती के वास्तविक बच्चों को कहीं जंगल में फेंक आऊँगी। बड़ी सावधानी का काम है। लेकिन करना तो है ही। इधर चन्द्रावती भी इस संभावना से डरती है कि दो बच्चों का एक साथ जन्म मारक होता है। उसे और अधिक भयभीत करके इस बात के लिए राजी करूँ कि वह मेरे घर ही प्रसव करने के लिए तैयार हो जाए।'

अपनी योजना को कार्यान्वित करने के लिए सुलखा ने बहुत कुछ सोच लिया। परिस्थितियाँ भी उसका साथ दे रही थीं। होनहार ही ऐसी थी, इसलिए संभव बातें ही सुलखा को सूझ रही थीं। सुलखा चन्द्रावती के पास आई और उससे कहा—

"स्वामिनी ! आपके गर्भ में दो बच्चे हैं। यद्यपि गाँठ लगाने वाला विधाता ही गाँठ खोलता है, फिर भी मनुष्य को प्रयास करना पड़ता है। दो बच्चों का प्रसव मरणान्तक होता है। यदि प्रसूता बच जाए तो उसका दूसरा जन्म ही समझना चाहिए। अतः तुम महाराज को इस बात के लिए राजी कर लो कि तुम्हारा प्रसव मेरे घर पर ही हो। क्योंकि वहाँ मेरी दासियाँ हैं जो प्रसवकर्म में चतुर हैं और तुम्हारी दासियाँ मेरी किसी काम की नहीं। दूसरे, मेरे पास जब जैसी जरूरत पड़े—सभी तरह की जड़ी-बूटियाँ भी रहती हैं।"

चन्द्रावती बोली—

"इसमें महाराज क्या करेंगे ? स्त्रियों की बातों में वे

क्यों दखल देने लगे ? मैं उन्हें राजी कर ही लूंगी। तुम मेरी दाई माँ हो। मैं भी तुम्हारे घर पर ही प्रसव करना चाहती हूँ।"

सुलखा को वहुत जल्दी सफलता मिल गई। समय निकट आता जा रहा था। सुलखा ने एक गर्भिणी कूकरी को रोटी-खिला-खिलाकर अपने पास ही रख लिया। अपने घर से कुछ ही दूर एक सूने स्थान में उसके लिए घास-फूंस का घर वना दिया और वहीं उसके लिए रोटी-पानी की व्यवस्था कर दी। गर्भभारालसा कुतिया अव वहीं पड़ी रहती। महारानी चन्द्रावती के प्रसव से तीन दिन पहले कुतिया ने छह वच्चे दिये। फिर चन्द्रावती का भी प्रसव-दिन आ गया। पालकी में वैठकर वह सुलखा के आवास पर ही दो दिन पहले पहुँच गई। उसकी वीस दासियाँ साथ गईं। पूरी चम्पापुरी राजपुत्र के जन्म का शुभ समाचार सुनने के लिए उत्सुक थी। महाराज चन्द्रसेन वड़ी वेसब्री से प्रतीक्षारत थे।

प्रसव-वेला आई। प्रसव-वेदना से चन्द्रावती छटपटाई और उसने एक पुत्र तथा एक पुत्री को जन्म दिया। वड़ी फुर्ती से सुलखा ने चन्द्रावती को ऐसा पेय पिला दिया कि वच्चों को जन्म देते ही वह वेहोश हो गई। सद्य:जात वच्चों का रोना कोई न सुने, इसलिए सुलखा उन्हें गर्भ की वेहोशी में ही टोकरी में रखकर वाहर ले गई। पीछे के द्वार से निकली। दासियाँ आदि सव मुख्य द्वारों पर थीं। इन दोनों वच्चों को सुलखा एक खण्डहर में सुला आई। उसका दिल वहुत तेजी

से धड़क रहा था। पत्ता खटकने से ही डर जाती थी सुलखा। दस क़दम आगे चलती तो दस बार ही पीछे मुड़ कर देखती कि कोई आ तो नहीं रहा। भावी वश समय भी रात का था।

अपना काम सफल करके लौटी सुलखा। एक से रंग के कुतिया के दो बच्चे साथ ही लाई और यथास्थान उन्हें डाल दिया। फिर बड़े नाटकीय ढंग से सुलखा चिल्लाई—

"दासियो दौड़ो। कहाँ मर गयीं सब ?"

दासियों की भीड़ लग गई। सुलखा ने कहा—

"जल्दी महाराज से कहो कि चिकित्सक को भेजें। महारानी बेहोश हो गई हैं।"

राजा तक संवाद पहुँच गया। राजवैद्य तुरन्त आये। पुरुष होने के कारण वे प्रसूतिगृह में तो जा नहीं सकते थे। अतः महाराज चन्द्रसेन के सामने ही एक दासी को औषध देते हुए बोले—

"इसे महारानी की नाक पकड़कर ओठों पर डालना। औषध अन्दर चली जायगी। उन्हें तुरन्त होश आयेगा।"

फिर राजा से कहा—

"घबराने की कोई बात नहीं है। राजन् ! एक तो पहला प्रसव। दूसरे जुड़वा बच्चों को जन्म देना। ऐसी दशा में तो मृत्यु तक हो जाती है। फिर भी सुलखा बहुत चतुर है।"

औषध-प्रयोग से जब चन्द्रावती को होश आ गया तो दासियों की दृष्टि कुतिया के पिल्लों पर गई। धूर्त दाई ने उन्हें प्रसव-रक्त में भी लपेट दिया था। उसने भी सबके साथ

ही बड़े आश्चर्य श्वानसुतों को देखकर कहा—

"हाय राम ! हम चम्पापुरी वालों के ऐसे भाग्य ! महारानी ने श्वानपुत्रों को जन्म दिया। अब किस मुंह से महाराज को संवाद दूं मैं ?"

किसी को यह सन्देह नहीं हुआ कि सुलखा अपने स्थान से हिली भी है। प्रसूतिगृह के बाहर सब उत्सुक थे। बड़ी तेजी से यह संवाद प्रचारित हो गया कि छोटी रानी चन्द्रावती ने श्वानसुतों को जन्म दिया है। दोनों हाथ जोड़े सुलखा महाराज चन्द्रसेन के सामने पहुँची और गुम-सुम खड़ी हो गई। महाराज दासियों से पहले ही सुन चुके थे और उन्होंने ही सुलखा को बुलाया था। उसे गुम-सुम देख महाराज आवेश में बोले—

"सुलखे ! बोलती क्यों नहीं ? अपने मुंह से कह कितना सुवर्ण लेगी ?"

सुलखा ने गिड़गिड़ाकर कहा—

"स्वामी ! महारानी को होश आ गया है। वे अब ठीक हैं।"

"दुष्टे ! वह मर क्यों नहीं गई ? जब तू इतना जानती थी कि दो संतानें एक साथ होंगी तो इतना भी जानती होगी कि क्या होंगी। तूने पहले क्यों नहीं बताया ?"

सुलखा बोली—

"प्रजारक्षक ! दासी को अभय दें। इतना तो मैं निश्चित जानती थी कि दो बच्चे होंगे। लड़का-लड़की को

मेरी पहचान आज तक झूठी नहीं निकली। पर महारानी का गर्भ देखकर मैं स्वयं बड़े असमंजस में थी। श्वानसुतों की तो मैं कल्पना भी नहीं कर सकती थी।"

राजा ने पूछा—

"तूने अपने जीवन में पहले भी कभी ऐसा विचित्र प्रसव कराया है?"

"नही अन्नदाता!" सुलखा बोली—"मेरी माँ को एक बार एक श्रेष्ठी के यहाँ ऐसा अनुभव अवश्य हुआ था। वही बताती थी कि कर्मदोष से विजातीय सन्तानें भी हो जाती हैं।"

"तेरा कोई दोष नहीं सुलखे! तू चाहे तो अब भी गठरी भर सुवर्ण ले जा सकती है। दोष तो मेरे भाग्य का ही है। कुलदेवी का वचन सत्य भी निकला और झूठ भी रहा। पिता तो मैं बन ही गया। पर श्वानसुतों का पिता बनने से तो मैं निपूत्री ही भला था।

"सुलखे! जिस-जिस दासी ने उन श्वानसुतों को देखा है, वे सब प्रायश्चित्त करें और तू उन्हें शीघ्र ही कहीं फेंक आ। अब मैं चन्द्रावती की सूरत भी देखना नहीं चाहता। मेरे भवन में अब उसके लिए कोई स्थान नहीं। वह अपने पूर्व उद्यान-भवन में ही एकाकिनी रहेगी। एक राजमहिषी को मिलने वाली सब सुविधाएँ उसे अब कदापि नहीं मिलेंगी। उसके उदर-पोषण के लिए जौ का आटा मिल जाया करेगा।"

चारों ओर बात फैल गई। सुलखा को अपने कृत्य पर

वहुत ग्लानि थी। चन्द्रावती अब परित्यक्ता दुहागवती बनकर रहने लगी। उसके पास अब दो ही दासियाँ थीं। सुलखा को उससे सहानुभूति थी, सो वह उसकी प्रसवोत्तर देखभाल करती थी।

इधर महाराज अपने भवन में पहुँच गए। नारी कितनी नाटकीय होती है, इसे जानने के लिए सुभामा का रोना कोई देखे। सुभामा फूट-फूटकर रोई और राजा से बोली—

"स्वामी! हमारा भाग्य इतना हीन होगा, यह मैं नहीं जानती थी। मैं तो सोचती थी कि वहन चन्द्रावती का सुत हम बारहों का भी सुत होगा। उसके अंगजात से हमारा भवन आलोकित होता पर हाय! हमारी सब आशाओं पर पानी फिर गया।"

इस तरह सुभामा द्वारा नाटकीय ढंग से चन्द्रावती के प्रति सहानुभूति दिखाने से राजा चन्द्रसेन चन्द्रावती के प्रति और भी क्रुद्ध हो गए। क्षुब्धस्वर में राजा ने कहा—

"प्रिये! अब तुम उसका नाम भी मत लिया करो। उसके पीछे मैं तुम्हारी भक्ति और तुम्हारा प्यार भी भूल गया था। वह तो सचमुच सर्पिणी ही निकली। आखिरकार नागपुत्री है न। अब जीवनभर फल भोगेगी।"

सुभामा मन-ही-मन वहुत प्रसन्न हुई, पर दिखावटी सहानुभूति दर्शाते हुए बोली—

"स्वामी! मैं तो नारी हूँ, इसलिए नारी का ही पक्ष लूँगी। पुरुष बहुत स्वार्थी होते हैं। जब हम बारहों से आपका

स्वार्थ पूरा नहीं हुआ तो आपने हमें त्याग दिया और अब चन्द्रावती पुत्र नहीं दे पाई तो उसे छोड़ बैठे। इसमें उस बेचारी का क्या दोष है? भाग्य-दोष के कारण क्या उसे त्यागना उचित होगा?"

चन्द्रावती का पक्ष लेने की आड़ में सुभामा ने बड़ी चतुराई से अपना छिपा रोष प्रकट कर दिया और इन शब्दों में अपनी पूर्व-उपेक्षा का बदला ले लिया। महाराज चन्द्रसेन से कोई जवाब देते न बना। बात को मोड़ते हुए बोले—

"महिषी! यदि तुम मुझे ठुकराना चाहो तो ठुकरा दो। मेरे लिए तो पहले का वन अब भी है। मैं तो सारा जीवन वन में ही काट दूंगा। पर अब चन्द्रावती का मुंह भी नहीं देखूंगा। वह भी बांझ रहती तो अच्छा था। पर उसने तो मेरी जग-हंसाई कराई है।"

महिषी सुभामा रूआंसी-सी होकर बोली—

"प्राणेश्वर! इस बार आप यदि वन को गए तो मैं अपने प्राण त्याग दूंगी। स्त्री तो मात्र पति के सुख को ही सुख मानती है। उसका वह दुःख भी सुख है, जिसमें उसका पति सुखी रहता है। जब आप बहिन चन्द्रावती के साथ रहते थे, मैं तो तब भी दुःखी रहकर भी सुःखी थी। अब आपने उसे त्याग दिया है, तो मैं आपके सुख में सुखी हूँ। सच कहती हूँ, अब आप वन जाने की बात मत कहना नहीं तो मैं....।"

महाराज ने सुभामा को वक्ष से लगा लिया और आगे कुछ कहने से रोकते हुए बोले—

"प्रिये ! तुम भी तो मेरी प्राण हो। मैं भी अपने प्राणों को नहीं छोड़ सकता। आज मैं तुम्हें वचन देता हूँ कि तुम्हारा स्वर मेरे ऊपर रहा करेगा। तुम्हारी भक्ति ने मुझे मोह लिया है। मैं सबकी बात टाल सकता हूँ, पर तुम्हारी नहीं।"

चतुर सुभामा बोली—

"स्वामी ! सूर्य की बारह राशियों की तरह हम आपकी बारह हैं, क्योंकि आपका वियोग मुझ अकेली ने ही नहीं सहा।"

"बिलकुल ठीक है प्रिये !" राजा बोले—"वर्ष के बारह महीने तुम बारहों के साथ ही कटेंगे। पर तेरहवीं चन्द्रा का नाम मत लेना। तेरहवीं संख्या वैसे भी अशुभ है।"

सुभामा ने सुतीक्ष्ण चितवन से चन्द्रसेन नृप को घूरा। आज उसकी चिरसंचित मुराद पूरी हो गई थी और राजा की ओर देखते हुए वह सुलखा दाई के चातुर्य के विषय में सोच रही थी और मन-ही-मन अगणित धन्यवाद दे रही थी।

अब चम्पापुरी के राजा-रानियों के जीवन नाटक का एक अंक पूरा हो गया था और दूसरा शुरू होने वाला था। सब इसी विपरीत निश्चय के साथ जी रहे थे कि चम्पापुरी के भाग्य में युवराज है ही नहीं। राजा चन्द्रसेन निस्सन्तान ही रहेगा। दैव की इच्छा से राजा चन्द्रसेन की बुद्धि पर परदा पड़ गया था। उसकी दूरदर्शिता तो अलग रही, अपने पांव के नीचे का रोड़ा भी नहीं देख सका था। यदि वह चाहता तो छानबीन करता। कम-से-कम सोचता तो सही कि एक मानवी

श्वानसुतों को जन्म नहीं दे सकती। इतना तो अवश्य होता है कि गर्भिणी के दोहद—उसकी इच्छाओं का दमन करने के कारण, विपरीत चिन्तन करने तथा भयंकर दृश्य देखने से गर्भस्थ शिशु विकृत आकृति का हो जाता है। किसी मानव-शिशु का मुंह बन्दर जैसा होता है। किसी के नाक की आकृति हाथी की सूंड जैसी भी हो जाती है। किसी का मुंह कुत्ते के मुंह जैसा लम्बा होता है। लेकिन इन विभिन्न आकृतियों के रहते हुए भी मानव-शिशु, होता मानव-शिशु ही है। एकदम श्वान-शिशु हो ही नहीं सकता। लेकिन कृतकर्मों का उदय सब पर पर्दा डाल देता है। यदि और कुछ नहीं तो राजा चन्द्रसेन इतना तो अवश्य सोच लेता कि चन्द्रावती बांझ तो है ही नहीं। यदि पहली बार श्वानसुतों को जन्म दिया है तो दूसरी बार मानव-पुत्र को जन्म देगी। जब यह वन्ध्या नहीं है तो इससे सम्बन्ध क्यों तोड़ूँ? सहजीवन के परिणामस्वरूप यह पुनः पुत्रवती भी बन सकती है। लेकिन होनहार कुछ नहीं सोचने देती। इसीलिए राजा चन्द्रसेन ने या तो कुछ सोचा ही नहीं और यदि सोचा भी तो विपरीत ही सोचा। इस पूरे नाटक में कोई भी दोषी नहीं। अभिनेता कभी दोषी होता भी नहीं। निर्देशक जो बताता है, वही अभिनेता करता है। कर्मविपाक, दैव, भावी, भाग्य, होनहार कुछ भी नाम दो—यही एक निर्देशक है। कर्मबन्धरूपी निर्देशक जैसा नचाता है, जीव रूपी नट को उसी तरह नाचना पड़ता है। चन्द्रावती, चन्द्रसेन, सुलखा, सुभामा आदि के साथ वे बच्चे जिन्हें चन्द्रावती ने जन्म दिया था और जिन्हें सुलखा कहीं फेंक आई थी—ये सब कर्मरूपी निर्देशक के इशारों पर नाच रहे थे। चन्द्रावती के अंगजात भी तो पाप-पुण्यों की गठरी लेकर इस धरा पर आये थे। पुण्यात्मा के पाप पहले प्रकट होते हैं और पुण्य बाद में। □

5

संन्यासियों की विविध परम्पराओं में एक परम्परा दशनामी संन्यासियों की भी है। हिन्दू शास्त्रों में ऐसा माना जाता है कि जब ब्रह्मा ने सृष्टि की इच्छा की तो उनके ललाट से दशनामी संन्यासी उत्पन्न हुए तथा मुख से ब्राह्मण और फिर भुजाओं, उदर तथा चरण से क्षत्रिय, वैश्य और शूद्रों का जन्म हुआ। इसके बाद आठवीं शताब्दी में आद्य शंकराचार्य ने दशनामों की पुनर्स्थापना की। ये दशनामी संन्यासी गिरि, पुरी, सरस्वती, तीर्थ, आश्रम आदि नामों से जाने गए।

इसी परम्परा के लालगिरि नाम के 'गिरिनामा' एक संन्यासी चम्पापुरी के नैऋत्यकोण में नितान्त एकान्त में कुटिया बनाकर रहते थे। उनकी परम्परा के गिरिनामा संन्यासियों के विषय में कहा जाता है—

"वासो गिरिवने नित्यं गीताध्ययनतत्परः।
गम्भीराचलबुद्धिश्च गिरिनामा स उच्यते॥"

अर्थात् जो पहाड़-वन में सदा निवास करता है। गीता के अध्ययन में सदा लगा रहता है, जिसकी बुद्धि गंभीर और निश्चल है, उसे 'गिरिनामा' (संन्यासी) कहते हैं।

ये सब बातें और विशेषताएँ चम्पापुरी के योगी-यती लालगिरि बाबा में भी थीं। गिरि कन्दराओं में घोरतप करने के बाद लालगिरि ने अनेक दुर्लभ योगविद्याओं में सिद्धि प्राप्त कर ली थी। जिस स्थान पर उनकी कुटिया थी, वह स्थान चम्पापुरी से बाहर नैऋत्यकोण में एक वन में नगरी से लगभग एक कोस दूर था। अपनी कुटिया में वे अकेले ही रहते थे। हाँ, साथ में एक गाय और गाय का बछड़ा अवश्य थे। हिन्दुओं में गोसेवा—मातृसेवा अथवा भगवत्सेवा का एक अंग ही मानी जाती है। इसी मान्यता के आधार पर बाबा लालगिरि के आश्रम में श्यामा नाम की एक गाय रहती थी। माता का दूध छोटे शिशु के पालन-पोषण के लिए ही होता है, इसलिए श्यामा का दूध केवल उसका बछड़ा ही पीता था, बाबा नहीं। दैनिक उपयोग के सामान के नाम पर बाबा लालगिरि के पास एक कमण्डल, एक जोड़ी खड़ाऊँ और चिमटा थे, जो उनकी धूनी के पास ही रखे रहते थे। इसके अतिरिक्त दो गैरिक चादरें, दो जोड़ी कपड़े, दो लकुट और रस्सी—ये दोनो चीजें देवाधिष्ठित थीं। पानी का एक घट और एक चटाई, ये दो चीजें भी थीं। आश्रम में चार-छह तुलसी के पौधे और कुछ पुष्प-पादप थे। इन सबके अतिरिक्त बाबा लालगिरि के पास कुछ पुराने शास्त्र ग्रन्थ भी थे। उनका अधिकांश समय, ध्यान, जप और अध्ययन में बीतता था। बाईस घण्टे एक ही आसन से बैठने का उन्हें गजब का अभ्यास था। रात्रि को दो घण्टे से अधिक नहीं सोते थे। वे ऐसा मानते थे कि रात को सोने

के कारण आधा जीवन तो सोने में ही बीत जाता है। इसके अतिरिक्त दिन का जो जागने का समय है, उसमें भी मूर्ख प्राणी अज्ञान निशा में सोता है और मैं-मेरा की स्वप्न की-सी नाना क्रीड़ाओं और शेष तथाकथित जाग्रतावस्था में बिता देता है। यही सब मानकर वे अपना अधिकांश समय ध्यान-जप में लगाते थे। इसी समय वे अपने पास आने वाले श्रद्धालुओं को उपदेश आदि भी देते थे।

बाबा लालगिरि सुगठित देहवाले और गौर वर्ण के थे। मुण्डित वेश में रहते थे, अर्थात् सिर और दाढ़ी-मूँछें सफाचट थीं। उनके माथे पर त्रिपुण्ड्र तिलक लगा रहता था। उनकी आँखों में कुछ ऐसी कठोरता थी कि सहसा किसी का साहस उनकी ओर देखने का नहीं होता था। यद्यपि वे जल्दी क्रुद्ध नहीं होते थे, पर उनका क्रोध सर्वनाश करने की शक्ति-सामर्थ्य रखता था। कहने को वे चम्पापुरी के राजा चन्द्रसेन के राज्य में रहते थे, पर वे यही मानते थे कि संन्यासी किसी राजा के राज्य में नहीं रहता, बल्कि अपने मनोराज्य में रहता है। वे भिक्षाजीवी साधु नहीं थे। उन्हें किसी ने चम्पापुरी में भिक्षा माँगते नहीं देखा था। यद्यपि उनमें ऐसी योगशक्ति थी कि बिना किसी प्रत्यक्ष साधन के वे हजारों-हजार लोगों को दावत दे सकते थे, फिर भी श्रद्धालुओं द्वारा लाई गई भोज्य सामग्री से ही अपना काम चलाते थे। अपने निजी उपभोग के लिए अथवा चमत्कार-प्रदर्शन के लिए वे कभी भी अपनी योगशक्तियों का उपयोग नहीं करते थे। उनकी विद्याओं का

उद्देश्य पर-पीड़न को दूर करना अथवा असहायों की सहायता करना मात्र ही था।

बाबा लालगिरि के व्यक्तित्व के विविध रूप थे। अपने एक रूप में वे नवनीत से भी कोमल दूसरे के परिताप से द्रवित होने वाले थे। जीवमात्र के कल्याण की कामना रखते थे। दूसरे रूप में वे अनेक और विद्याओं के धनी और शस्त्र-शास्त्रविद्या में पारंगत थे। वे मल्ल-विद्या के भी जानकार और बलिष्ठ शरीर वाले थे। हाथी जैसे डीलडौल वाला हाथी नाम का पहलवान जो पहलवान अथवा मल्लों का मुखिया था, उनको अपना गुरु मानता था और सवेरे मुँह-अँधेरे जब भी बाबा की कुटिया के सामने से गुजरते हुए अखाड़े में जाता था, उनकी कुटिया के सामने माथा टेककर जाता था। इस दल के सभी मल्ल बाबा के आज्ञानुवर्ती थे। अपने तीसरे रूप में बाबा लालगिरि दुष्टों के काल, अवधूत, यौगिकक्रियाओं में निष्णात, बहुत क्रोधी और भयंकर थे। सब मिलाकर ऐसे ही थे बाबा लालगिरी।

नित्य की तरह पाँच घड़ी रात की नींद लेने के बाद बाबा लालगिरी जल से भरा अपना कमंडल लेकर शौच से निवृत्त होने जा रहे थे कि रात के सन्नाटे में उन्होंने दो शिशुओं का क्रन्दन सुना। वे दोनों शिशु वही थे, जो सुलखा दाई ने एक खण्डहर में फेंक दिये थे। सद्य:जात बच्चे भूख से बिलबिला रहे थे। गहरे गड्ढे में होने के कारण उनके रोने की आवाज क्षीण स्वर में ही आ रही थी। क्रन्दनस्वर के

सहारे बाबा उस स्थान पर पहुँचे और गड्ढे में झाँककर देखा तो क्रोध में फुंकारने लगे। मानो कोई सुन रहा हो, इसी ढंग से बोले—

"ऐसा कौन पापात्मा है, जो भगवान् के रूप इन बालकों को यहाँ फेंक गया है ? मन होता है, जिस दुष्ट ने ऐसा निन्दनीय काम किया है, उसे यमलोक पहुँचा दूं।"

इसके बाद अपने मन में कहा—'तो अपनी योग-विद्या से यह मालूम करूँ कि ये दोनों बच्चे किस माता-पिता की सन्तान हैं और किसने इन्हें यहाँ फेंका है ? फेंकने वाले ने यह भी नहीं सोचा कि भक्षक से भी बड़ा रक्षक होता है ?' फिर अपने प्रश्न का उत्तर स्वयं ही दिया—'नहीं, मैं ऐसा नहीं करूँगा। योगविद्या बच्चों का खिलवाड़ नहीं है कि जिसका प्रयोग बात-बात पर किया जाय। दैव यदि इस रहस्य को छिपाना चाहता है तो मैं क्यों दैव की योजना में दखल दूँ ? जिसने बुरा काम करके यह कर्मबंध किया है, वह स्वयं ही इसका फल भोगेगा। मुझे तो सन्त हृदय के अनुसार इन बच्चों की सुरक्षा और लालन-पालन की व्यवस्था करनी चाहिए।'

ऐसा निश्चय कर बाबा ने अंजलि में जल लिया और कुछ देर मन-ही-मन मंत्र पढ़ने के बाद बोले—

"जब तक मैं स्नानादि से निवृत्त होकर यहाँ नहीं आऊँ, जब तक के लिए इन बच्चों के अंगूठे में अमृत भर जाय और अपना-अपना अंगूठा चूसते हुए ही ये अपनी क्षुधा शान्त करें।"

बाबा ने अंजलि का जल बच्चों पर फेंका। चमत्कार हुआ। दोनों बच्चे चुकर-चुकर अपने-अपने दाहिने हाथ का अंगूठा पीने लगे और उनका रोना बन्द हो गया। बाबा ने पुनः कहा—

"जब तक मैं लौटकर नहीं आऊँ, ये दोनों शिशु यहीं सुरक्षित लेटे रहें। इस ओर कोई नहीं आये।"

इसके बाद बाबा शौच, स्नान आदि से निवृत होने नदी तट पर गए और कमंडल में जल लिए पुनः खण्डहर के पास आये। दोनों बच्चों को खण्डहर से निकालकर कमण्डल के जल से स्नान कराया और दोनों को अपनी गैरिक चादर में लपेट कर कुटिया में ले आये। दोनों को यथास्थान लिटाने के बाद पुनः अपना कमण्डल उठाया। बच्चे अब भी अपना अंगूठा चूस रहे थे। कमण्डल लिए बाबा श्यामा गाय के पास पहुँचे और जैसे वह सब सुनती-समझती हो, उस गाय से कहने लगे—

"गोमाता ! तू अपने वत्स की ही माता नहीं है, बल्कि हम सबकी माता है। तेरे ही कारण वत्स, वत्सलता और वात्सल्य शब्दों का जन्म हुआ है।

"माँ ! तेरा दूध तेरे छोटे बेटों के लिए है। मैं भी तेरा बेटा हूँ, लेकिन सयाना बेटा हूं, इसलिए मुझे तो अब दूध की जरूरत नहीं है। तेरे वत्स को तो है ही, पर अब उसके साथ तेरे ये दो बालक भी तेरा पयपान करेंगे। चूंकि दैव-कोप से ये जन्मते ही अपनी जननी के दूध से वंचित हो गए हैं, इस-

लिए अब ये भी तेरा ही पय:पान करेंगे।"

सचमुच गाय ने बाबा की बातें सुनीं-समझीं, सो बड़े जोरों से रँभाई और अपना सिर भी हिलाया। मानो कहा हो 'तुम्हीं एक ऐसे गोभक्त हो जो मुझसे पूछ रहे हो, वरना लोक तो मेरे वत्सों का पेट काटकर मेरा दूध निकाल लेते हैं। गो की वत्सलता कायम रहे, इसलिए तुम निस्संकोच मेरा दूध काढ़ लो।'

यह कोई अनहोनी या चमत्कार की बात नहीं। वैर-प्रीति का अनुभव पशु-पक्षी भी करते हैं। वे मनुष्यों के संसर्ग में रहकर उनके भाव और व्यवहारों से प्रभावित होते हैं और तदनुसार आचरण भी करते हैं। वे मनुष्य की तरह मुँह से अपनी बात भले ही न कहते हों, पर अपने संकेतों से मनुष्य के प्रश्नों का उत्तर भी देते हैं, क्योंकि ये मूक प्राणी सब सुनते-समझते हैं। बाबा लालगिरि पहले नित्य बछड़े को ही दूध पिलाया करते थे। आज जब गाय ने उनके हाथ में कमण्डल देखा तो उनकी बातें भी समझ गई। इसलिए रँभाई और सिर भी हिलाया।

बाबा ने बछड़ा छोड़ दिया। जब वह दो थन का दूध पी चुका तो बाबा ने बछड़े को गाय के सामने बांध दिया। गाय बछड़े को चाटने लगी और बाबा शेष दो थनों का दूध काढ़ने लगे। दूध काढ़ने के बाद उसे धूनी पर गरम किया और रुई की लम्बी-मोटी दो बत्तियां बनाकर कमण्डल में भरे दूध में डाल दीं। बत्तियों का एक-एक सिरा बच्चों के मुँह में

दे दिया। जैसे शिशु मां के स्तन को मुंह में दबाकर दूध पीते हैं, उसी तरह रूई की वत्तियों को दबाकर दोनों बच्चे दूध पीने लगे और बाबा दोनों के सिर पर हाथ फेरते रहे। संसार-त्यागी इन बाबा की ममता देखते ही बनती थी।

× × ×

आत्मा जब किसी जीव अथवा प्राणी की देह धारण करती है तो प्राणियों के विभिन्न देह-रूपों के भिन्न-भिन्न जाति-वाचक नाम स्वतः ही हो जाते हैं, जैसे मनुष्य, गाय, कुत्ता, पेड़ आदि। लेकिन व्यक्तिगत व्यवहार और जान-पहचान के लिए मनुष्यरूप प्राणी के अलग-अलग नाम भी रखे जाते हैं। यह सब सुविधा की परम्परा है, वैसे जीव का नाम होता ही क्या है ? यदि कोई नाम ही होता तो हर जन्म में मनुष्य के नाम क्यों बार-बार बदलते ? सुविधा की सनातन परम्परा के कारण बाबा लालगिरि भी चन्द्रसेन-चन्द्रावती के पुत्र-पुत्री का कोई नाम रखने का विचार कर रहे थे। बाबा सोच रहे थे—'क्या नाम रखूं इनका ? यह भी तो पता नहीं कि ये किस वर्ण के बच्चे हैं। योगविद्या से मैं इस रहस्य का पता लगाना नहीं चाहता। लेकिन कोई-न-कोई नाम तो रखने ही पड़ेंगे। नाम के अभाव में मैं वत्स और पुत्री सम्बोधन से भी काम चला सकता हूं। लेकिन सबका काम तो इन सम्बो-धनों से चलेगा नहीं। बड़े होकर ये दोनों एक दिन **अपना** नाम फैलायेंगे। बड़े सुलक्षण बालक हैं। एक दिन '**नाम**' अपना, तो फिर इनका कोई नाम भी होना चा

नाम के नामी (नामवाला) नाम कैसे कर सकता है।'

वालक के सिर पर हाथ फेरते हुए वावा ने मन-ही-मन कहा—'यह वालक वालगोविन्द का रूप है। इसलिए इसका नाम गोविन्दसिंह ही ठीक रहेगा।''''और यह वालिका? इसकी देह-कान्ति चम्पकलता जैसी है, अतः आज से इसने चम्पकलता नाम पाया।

नामकरण हो गया दोनों का। चन्द्रसेन-चन्द्रावती के आत्मज-अंगजात गोविन्दसिंह और चम्पकलता हो गए। यह सव काम उसी दिन, जिस दिन वावा लालगिरि गोविन्द और चम्पकलता को खण्डहर से उठाकर लाये थे, पूर्वाह्न तक पूरा हो गया। तभी कुछ श्रद्धालु नर-नारी वावा के आश्रम में आये और इन दोनों वच्चों को देखकर वड़े चकराये। मन-ही-मन सोचने लगे—'तो क्या यह वावा संसारी हो गए। इसके सद्यः जात वच्चे कहाँ से आ गए?' एक ने साहस करके पूछा—

"वावा! आपके पास ये वच्चे''''?"

इतना ही कह पाया था प्रश्नकर्त्ता कि वावा ने गरज-कर कहा—

"क्यों, तुम्हारे ही वच्चे हो सकते हैं? हम नहीं रख सकते वच्चे? खवरदार जो अव कभी इन वच्चों के वारे में कभी पूछा। कान खोलकर सुन लो, जैसे मैं तुम सवका वावा हूँ, ऐसे ही मैं इनका भी वावा हूँ।"

वावा के क्रोध से सभी डरते थे। इसलिए सव सहम गए। फिर किसी का साहस गोविन्दसिंह और चम्पकलता के

बारे में पूछने का नहीं हुआ। लेकिन बाबा विविधरूप व्यक्तित्व वाले थे, अतः अपनी ओर से ही पुनः सबको बताया—

"बच्चों का पालन सांसारिकता नहीं है, बल्कि उनके प्रति मोह-ममता और आसक्ति ही सांसारिकता है। एक धाय किसी बड़े घर के बच्चे का पालन करती है, पर उसमें माँ का-सा मोह नहीं होता, बस पालन-कर्त्तव्य का माँ का-सा प्यार अवश्य होता है। जब बच्चा बड़ा हो जाता है तो वही धाय दूसरे घर जाकर किसी दूसरे बच्चे का पालन करने लगती है। यदि उसमें मोह-ममता होती तो पहले घर को छोड़कर दूसरे घर कैसे जाती ?

"जिज्ञासुओ ! मैं भी इन बच्चों की धाय हूँ। जब तक ये समर्थ नहीं हो जाते, तब तक मैं इनकी माता भी हूँ और पिता भी। बड़े होने के बाद ये मेरे नहीं, और मैं इनका नहीं। वैसे भी संसार के सभी अपनत्व झूठे होते हैं। इस तरह बेसहारा बच्चों का लालन-पालन करना लोक-सेवा है और लोक-सेवा साधु करता है।"

इसके बाद बाबा ने एक मनगढ़न्त कहानी-सी सुनाई—

"भाग्य-योग से जन्मते ही इनकी माता चल बसी। पिता भी नहीं थे। इनको सम्हालने वाला कोई नहीं था, अतः मैं इन्हें ले आया। बोलो, और कुछ पूछना चाहते हो ?"

एक दूसरा श्रद्धालु बोला—

"हमारा अपराध क्षमा करें बाबा ! ६

पूछेंगे। इतना जानते हैं कि आप जो भी करेंगे, अच्छा ही करेंगे। जैसे आप महान् हैं, वैसे ही आपका हर कार्य अद्भुत और महान् होता है।"

फिर और बातें होने लगीं। गोविन्दसिंह और चम्पक-लता नामधारी बालक-बालिका सो रहे थे। कुछ देर बाद सब श्रद्धालु चले गए। इन होनहार बालकों को देखने और भी लोग आये, पर इनके बारे में फिर कुछ पूछने-जानने का साहस किसी का नहीं हुआ। अनेक लोग बच्चों के लिए वस्त्रादि दे गए। श्रद्धापूर्ण होने के कारण बाबा ने सब भेंटें स्वीकार कर लीं।

अब दिन बीतने लगे। गोविन्दसिंह और चम्पकलता बड़े सुख से धीरे-धीरे वृद्धि को प्राप्त होने लगे। इधर जैसे कृष्ण की ओर से कंस निश्चिन्त रहता था, वैसे ही राजा चन्द्र-सेन की पटरानी सुभामा तथा वामा, अलका, मदनध्वजा आदि बारहों रानियाँ भी निश्चिन्त थीं। सुलखा ने उन्हें विश्वास दिला दिया था कि उन्हें मारकर मैंने अपने हाथ तो कलंकित नहीं किये, पर ऐसी व्यवस्था अवश्य कर दी है कि वे बचेंगे नहीं। सुलखा ने सभी रानियों से स्पष्ट कहा—

"महारानियो! आपकी मूल इच्छा यह पूरी हो गई कि आपकी सौत चन्द्रावती का मान घट गया। वह चलते-फिरते शव की तरह का जीवन बिता रही है। आपके स्वामी आपको मिल गए। साथ ही आपके दूसरे शत्रु भी अब इस दुनिया में नहीं रहेंगे, क्योंकि ऐसे खण्डहर में फेंक आई हूँ, जिधर

कोई आदमी नहीं जाता। अतः या तो वे भूख से तड़प-तड़प कर मर जायेंगे या कोई जानवर खा जायगा उन्हें।"

पटरानी सुभामा ने कहा—

"सुलखा ! आज से तू हम बारहों की अन्तरंग सखी है। अब तू किसी बात की चिन्ता मत करना। धन के अलावा अन्य सभी प्रकार की सुविधायें तुझे हमसे मिलती रहेंगी।"

रानियों के साथ सुलखा भी निश्चिन्त हो गई। समय गुजरता रहा और धीरे-धीरे पाँच वर्ष यों ही बीत गए। इन बीते वर्षों ने सुभामा आदि बारहों रानियों को अब और भी निश्चिन्त कर दिया था। एक तरह से चन्द्रावती के बच्चों की बातें सभी भूल गए थे। राजा चन्द्रसेन भी अपनी सन्तान-हीनता का दुःख भूल गया था। दुःखों को याद रखने वाली अब केवल चन्द्रावती रानी ही थी। क्योंकि पति-परित्यक्ता सती नारी अपने दुःख को कभी नहीं भूल पाती है। नागकन्या चन्द्रावती रानी अपने इस दुःख को समभाव से सहती थी और किसी भी निमित्त को दोष न देकर इस काण्ड को अपने पूर्व-कृत कर्मों का ही दोष मानती थी। चन्द्रावती की तरह सभी धर्मनिष्ठ लोग अपने दुःखों के बाहरी कारण को महत्व नहीं  देते। □

6

एक रात गोविन्दसिंह को लघुशंका जाने की इच्छा हुई। उसने बावा से कहा—

"बावा ! मेरे साथ चलो। बाहर बड़ा सन्नाटा है। मुझे तो डर लगता है।"

बावा लालगिरि को मन-ही-मन गोविन्द पर बड़ी झुंझलाहट आई। क्रोध की सगी बहन बावा की इस झुंझलाहट के पीछे बावा के मन में गोविन्द का हित ही छिपा था। वे सोचने लगे, 'बचपन में यदि डर बैठ जाय तो फिर बच्चे बड़े होकर भी भीरु और डरपोक बने रहते हैं। मैं बाहर इसके साथ जाऊँ तो यह अन्धा प्यार होगा। इस समय की फटकार इसके लिए हितकारी सिद्ध होगी।' यही सब सोच बावा ने गोविन्द से कड़ककर कहा—

"क्या कहा, डर लगता है ? डर किस चिड़िया का नाम है ? कभी देखा है तूने ? डर कैसा होता है ? बावा लालगिरि के बच्चे को किसका डर ? जा लघुशंका करके आ।"

बावा की लताड़ सुनकर गोविन्दसिंह कुटीर से बाहर गया और खड़े-खड़े मूत्र त्याग करने लगा। तभी उसने भारी डीलडौल के एक विशालकाय व्यक्ति को देखा, जो कुटी के सामने थोड़ी देर ठिठका, फिर माथा टेका और चुपचाप आगे

चला गया। जब पेशाब करके गोविन्द भीतर आया तो उसे लक्ष्य कर बाबा लालगिरि चम्पकलता से कह रहे थे—

"बेटी चम्पा, देख तेरा भइया गोविन्द अभी से डर की बातें करता है। डरपोक व्यक्ति इस धरती का भार होते हैं।"

चम्पकलता ने कुछ नहीं कहा। तब बाबा ने गोविन्द से पूछा—

"क्यों गोविन्द, डर लगा था तुझे? देखा था डर कैसा होता है? पगले, डर भी भीतर की चीज है, बाहर की नहीं।"

उत्तर में गोविन्द ने मन की बात कही—

"बाबा, डर तो मैंने नहीं देखा। जिस पर आपका हाथ हो, वह डरेगा क्यों? पर मैंने अभी-अभी एक विचित्र आदमी देखा था। इतना लम्बा-तड़ंगा आदमी मैंने आज तक नहीं देखा। आपकी कुटिया को मस्तक झुकाकर आगे बढ़ गया वह।"

बाबा बोले—

"अरे वह हाथी नाम का पहलवान होगा। वह इसी वक्त रोज अखाड़े में जाता है। मेरा शिष्य है, इसलिए मेरी कुटिया को मस्तक झुकाकर जाता है। दूर-दूर तक उसका कोई जोड़ नहीं। लेकिन है पागल....।"

"पागल?" गोविन्द ने आश्चर्य से पूछा।

बाबा बोले—

"और क्या? पागल तो है ही। बड़ी रात में उठता है

और सवेरे तक का सब समय दंड-बैठक और व्यायाम में ही लगा देता है। अब अखाड़े में जायेगा तो चार पहलवान तो उसकी मालिश करेंगे। फिर वह हाथी हजारों दंड-बैठक करेगा। खाता भी तो अनाप-शनाप है। अपना शरीर बनाने में ही उसने जीवन बिता दिया। दूर-दूर तक उसकी जोड़ का कोई पहलवान नहीं।

"गोविन्द ! अभी तू बच्चा है। आगे तुझे सब बताऊँगा। मैं हाथी पहलवान को और इस जैसे औरों को भी पागल या अविवेकी इसलिए कहता हूँ कि ये अपने शरीर को बनाने में ही जीवन का अन्त कर देते हैं। जबकि ये जानते हैं कि यह शरीर रहेगा नहीं। अपने पास न रहने वाली चीज की इतनी हिफाजत ? इतना समय आत्म-साधना में दें तो फिर जाने क्या से क्या हो जाए ?"

पाँचवर्षीय गोविन्द ने बाबा की बातें बड़े कुतूहल से सुनीं और बोला—

"बाबा, मैं अभी आता हूँ। तनिक निकट से भी हाथी को देख आऊँ।"

"जा, जरूर जा।" बाबा बोले—"इसी तरह तेरा डर निकलेगा।"

बाबा के वचनों से निडर बना गोविन्दसिंह अखाड़े तक दौड़ता चला गया और उछलकर हाथी पहलवान के कन्धे पर चढ़ गया। अचकचाकर हाथी बोला—

"अरे-अरे ! कौन है तू ? अरे, तू तो मेरे ऊपर ही चढ़

गया।"

खिलखिलाकर हँस पड़ा गोविन्द और बोला—

"तुम मुझे नहीं जानते ? मैं बाबा लालगिरि का बच्चा हूँ।"

"अच्छा ?" हाथी ने इतना ही कहा और गोद में भरकर गोविन्द को नीचे उतारा। हाथी के साथी मल्लों ने भी गोविन्द को खिलाया और हाथी से कहा—

"हाथी ! यह तेरा बाल-साथी भी बड़ा भारी मल्ल बनेगा।"

"लगता तो मुझे भी ऐसा ही है।" हाथी ने कहा—"इसे लेकर ही मैं बाबा के दर्शन करने जाऊँगा।"

अपना व्यायाम और अभ्यास पूरा करके हाथी ने गोविन्द को कन्धे पर बैठाया और उसे लेकर बाबा के पास पहुँचा। जाते ही गोविन्द को उतारा और बाबा के पैर छूकर बोला—

"बाबा ! यह नटखट बालक कौन है ?"

बाबा बोले—

"तुम्हारा ही गुरुभाई है। इसे अपने साथ रखो और इसके शरीर को बलिष्ठ करो। पाँच वर्ष का हो गया है अब यह। मैं इसे शस्त्र-शास्त्रों की शिक्षा दूँगा और तुम अखाड़े की शिक्षा दो।"

उसी दिन से गोविन्दसिंह और उसी के साथ चम्पकलता का भी विद्यारम्भ हो गया। बाबा ने गोविन्द आदि के सामने

यह श्लोक पढ़ा—

स्वरज्ञानरतो नित्यं स्वरवादी कवीश्वरः।
संसारसागरासारहृत्त्रासो हि सरस्वती॥

इस श्लोक को सुनाने के बाद इसके भावार्थ में अपनी बात मिलाते हुए बाबा लालगिरि ने कहा—

"गोविन्द! जैसे गिरिवनों में रहकर तप-साधना करने वाले संन्यासी गिरिनामा होते हैं, वैसे ही जो व्यक्ति स्वर-ज्ञान में निरत है, जो स्वर के विषय की विशेषरूप से विवेचना करता है, पण्डितों में श्रेष्ठ है और जो संसार रूपी सागर की असारता को दूर करने वाला है, अर्थात् असार संसार में रह-कर भी सारभूत ब्रह्म का साक्षात्कार करनेवाला है, उसे 'सरस्वती' (नामा संन्यासी) कहते हैं।

"गोविन्द! यह तो मैंने संन्यासियों की बात कही। अब तेरी बात कहता हूँ। तुझे मैं सरस्वती का मन्त्र देता हूँ। सरस्वती विद्या की अधिष्ठात्री देवी हैं। इस देवी की उपा-सना से बुद्धि निर्मल बनती है और सभी प्रकार की विद्याएँ शीघ्र आती हैं।"

बाबा लालगिरि ने गोविन्द और चम्पकलता दोनों को ही विद्यारम्भ के प्रथम दिन सरस्वती का मन्त्र दिया और कहा—

"इसके बाद अब तुम अपने-अपने संस्कारों के अनुसार विद्याएँ धारण करोगे।"

समय बीतता रहा और बहन-भाई विद्याभ्यास करने

लगे। बाबा चम्पकलता को स्त्रियोचित विद्याएँ सिखाने लगे, यथा—गायन, वादन, नृत्य, पाकशास्त्र आदि अनेक विद्याएँ। काव्य, पहेलियाँ, साहित्य और व्याकरण दोनों ही सीखते थे, क्योंकि ये विद्याएँ स्त्री-पुरुष दोनों को ही सिखाई जाती थीं। गोविन्द अपने योग्य कुछ अतिरिक्त विद्याएँ भी सीख रहा था यथा—गणित, इतिहास, राजनीति, युद्धविद्या साथ ही शर-संधान, असिचालन, भल्लप्रहार, गदाचालन और अश्वारोहण आदि। द्वन्द्वयुद्ध और अश्वारोहण की शिक्षा हाथी पहलवान दे रहा था। धीरे-धीरे गोविन्द सभी विद्याओं में निपुण होता गया। सभी तरह के शस्त्र चलाने में वह अद्वितीय हो गया। शब्दवेधी बाण तो गजब का चलाता था। व्यूह तोड़ने का भी उसने अच्छा अभ्यास किया था। अश्वारोहण में भी वह एक ही था। अश्वनृत्य, ऊँची-ऊँची कुदानें लगवाना, घोड़े को सरपट दौड़ाना, दौड़ते घोड़े पर से उछलकर पेड़ की डाली पकड़कर पेड़ पर चढ़ जाना आदि अनेक कौतुक वह अश्व-क्रीड़ा के दिखाता था। बाबा लालगिरि उसे देखकर मन-ही-मन बहुत प्रसन्न होते थे। गोविन्दसिंह किशोरवय का ही था और सुन्दर स्वास्थ्य के कारण तरुण-युवा-सा लगता था। उसके कैशोर्य का अनुमान उसके ओठों को देखकर ही लगाया जाता था, जिन पर अभी मूंछों के रोम भी नहीं थे।

× × ×

वसन्त ऋतु का प्रारम्भ हुआ तो चम्पापुरी के लोगों में चहल-पहल दिखाई देने लगी। वसन्त ऋतु तो होती ही ऐसी

है, जो सूखे ठूँठों में भी हरियाली का संचार कर देती है और जन-जन के मन में मस्ती और उमंग भर देती है। इस ऋतु-प्रभाव के अतिरिक्त चम्पापुरीवासियों की चहल-पहल का कारण था, यहाँ का प्रतिवर्ष लगने वाला 'वसन्त मेला'। महीनों पहले से ही इस मेले की तैयारियाँ होती थीं। चम्पापुरी के बाहर एक बड़े मैदान में लाखों नर-नारी इकट्ठे होते थे। पाँच दिन तक चलता था, यह मेला। नगरवासियों के शिविर लग जाते थे। राजा चन्द्रसेन स्वयं राज-समाज सहित यह वसन्तोत्सव देखने आते थे। सभी तरह के बाजार इस मेले में लगते थे।

आस-पास के अखाड़े आते थे। भिन्न-भिन्न अखाड़ों के प्रतिद्वन्द्वी पहलवान अपने-अपने शारीरिक बल का प्रदर्शन करते थे। अनेक प्रकार के खेल-तमाशे और भिन्न-भिन्न प्रतियोगिताएँ चम्पापुरी के वसन्तोत्सव में आयोजित की जाती थीं, जैसे ऊँची कूद, लम्बी कूद, एक पाँव की लँगड़ी दौड़, आँखों पर पट्टी बाँधकर अंधी दौड़, अश्वारोहण और शस्त्र-चालन की प्रतियोगिताएँ आदि-आदि। यों तो यह मेला प्रतिवर्ष ही लगता था, पर इस वर्ष पहली बार गोविन्दसिंह भी मेले में जाने के लिए उत्सुक था।

एक दिन हाथी पहलवान ने गोविन्दसिंह से कहा—

"गोविन्द भैया! अब तो तुम सब विद्या-कलाओं में प्रवीण हो गए हो। अतः बाबा से अनुमति ले लो और इस बार तुम भी अपने अश्वारोहण का प्रदर्शन करो। यहाँ का

राजा गुणग्राही है। जाने क्या दे दे ?"

पुलकित होकर गोविन्द ने कहा—

"जाने को मन तो मेरा भी है। पर बाबा ने तो कभी यह बात बताई ही नही। क्या पता वे अनुमती देंगे भी या नहीं ?"

"देंगे क्यों नहीं ?" हाथी बोला—"तुम कहकर तो देखो।" मोतीगिरि का अखाड़ा नाम से हमारा अखाड़ा भी तो जायगा। लेकिन एक बात और भी है....।"

"क्या ?" गोविन्द ने पूछा।

हाथी बोला—

"बाबा से कहकर ढंग के कपड़े माँग लो। बाबाजियों के से ये ढीले-ढाले कपड़े वहां जाने लायक नहीं हैं। साथ ही एक अच्छे घोड़े की व्यवस्था भी करा लेना....।"

"देखो, कहकर देखता हूँ।" शंकित मन से गोविन्द ने कहा और फिर बाबा लालगिरि के पास जाकर मेले में जाने लायक कपड़ों की बात कही। बाबा झल्ला पड़े और बोले—

"क्या कहा, अच्छे कपड़े ? तुझ से सीधी तरह नहीं रहा जाता जो उपद्रव की बातें करता है ? क्या रखा है मेले में ? यहीं रह।"

बाबा ने यह बात कुछ ऐसे अपनेपन से कही कि गोविन्द मचल गया और बोला—

"तो फिर मैं अब कभी घुड़सवारी नहीं करूँगा। जब मेला ही नहीं जाने देते तो वे सब कौतुक मुझे क्यों सिखाये

थे। हाथी भइया भी तो जा रहे हैं।"

बाबा का ऊपरी क्रोध गोविन्द की बातों से उड़ गया। वे मुस्कराकर बोले—

"अच्छा जा। कुटिया के पीछे जो पेड़ है, उसकी जड़ में सब कुछ रखा है।"

गोविन्द कुटिया के पीछे गया तो दंग रह गया। आज उसने बाबा की योगशक्ति का चमत्कार देखा था। पेड़ के पास ही सफेद रंग का एक घोड़ा खड़ा था। पेड़ की जड़ में गोविन्द के नाप के पाँचों कपड़े और पाँचों शस्त्र रखे थे। गोविन्द ने सभी कपड़े पहने और पाँचों हथियार धारण करके बाबा के पास आया और उनके चरणों में गिर पड़ा। उसे वक्ष से लगाते हुए बाबा बोले—

"गोविन्द ! तेरे लिए तो मैं कुछ दिनों के लिए पुनः संसारी बन गया। मेला जाना, अपने कमाल भी दिखाना, पर कोई उपद्रव मत कर बैठना। चम्पा को लेकर मैं भी आऊँगा और तेरे अश्वारोहण के चमत्कार देखूँगा।"

"गोविन्द ! एक बार फिर कहता हूँ कि लड़ाई-झगड़ा मत करना। यदि कोई अवसर आये भी तो टाल जाना। प्रतियोगिताओं में प्राय: खेल-खेल में ही तलवारें तन जाती हैं। वैसे मैं किसी भी झगड़े-उपद्रव से भयभीत नहीं होता। हजारों की सेना को यों ही मसल सकता हूँ, पर व्यर्थ ही अपनी शक्ति का अपव्यय भी नहीं चाहता।"

गोविन्द ने आश्वासन दिया—

"बाबा, आप किसी बात की चिन्ता न करें।"

आज गोविन्द सचमुच एक राजकुमार लग रहा था। उसके मुंह की अनुहार बिल्कुल राजा चन्द्रसेन जैसी थी। ऐसा लगता था, जैसे राजा चन्द्रसेन ही प्रौढ़वय से युवारूप में आ गया है। गोविन्दसिंह का रंग गोरा, माथा अष्टमी के चन्द्र जैसा और बाल सघन तथा गहरे काले। उसके सिर पर रेशमी पगड़ी बँधी थी, जिस पर जहाँ-तहाँ, उपयुक्त स्थानों पर रत्न टँके थे। गुलाबी कमरपट्ट था और हरा उत्तरीय। पीले रंग का सुनहरी काम वाला अँगरखा था। रत्नजटित मूठ वाला खड्ग कमर में झूल रहा था। कंधे पर धनुप-तूणीर थे और हाथ में भाला था। चम्पकलता ने जाने क्या सोचकर भाई के माथे पर डिठौना लगा दिया था।

प्रदर्शन की वेला आई। मैदान के चारों ओर दर्शकों की भीड़ थी। कुछ तो पेड़ों पर चढ़कर देख रहे थे। सुभामा, अलका, मदनध्वजा आदि बारहों रानियाँ सामने पड़ी जाली में से प्रदर्शन देख रही थीं। राजा चन्द्रसेन अमात्यों के साथ अलग पुष्पमंच पर बैठे थे। यथासमय गोविन्दसिंह क्रीड़ाभूमि पर आया। पहले तो उसके रूप को देखकर ही लोग मुग्ध हो गये। प्रायः सभी के हृदयों में यह हलचल होने लगी कि यह तो राजा चन्द्रसेन का प्रतिरूप जैसा ही है—बिल्कुल वही नाक, वही आंखें और वैसी ही पहचान। इधर रानियों का तो बुरा हाल था। सुभामा ने अलका की चिकोटी काटकर कहा—

"अलका बहन ! मुझे तो पक्का विश्वास है कि सुलखा ने उसे मारा नहीं। डर के कारण किसी को सौंप आई होगी। तभी तो पल-पुसकर इतना बड़ा हो गया है।"

अलका बोली—

"सन्देह तो मुझे भी हो रहा है। सुलखा ने धोखा दिया है हमें। अगर खण्डहर में फेंक आती तो बनता कैसे? लेकिन इसकी बहन भी तो होनी चाहिए।"

"तुम भी क्या बात करती हो अलका बहन?" यह स्वर मदनध्वजा का था—"बहन भी होगी, पर क्या वह भी कलाबाजियां दिखाने साथ आती?"

वामा ने कहा—

"इस समय तो खेल देख लो। सुलखा को भी बुलवा लो। वह भी तो देखे अपने धोखे का रूप।"

फिर सभी रानियां धड़कते हृदय से खेल देखने लगीं। एक दासी सुलखा को बुलाने चली गई। आज तो संध्या तक देखना ही देखना था।

गोविन्दसिंह ने अश्वारोहण के कौतुक दिखाये। घोड़े का नृत्य दिखाया। बाँस-बल्ली के बने ऊँचे-ऊँचे अवरोधों को पार करके दिखाया। गोविन्द का घोड़ा कन्दुक की तरह उछलकर अवरोध पार कर जाता था। घोड़ा दौड़ाते-दौड़ाते मार्ग में खड़े व्यक्ति को खींचकर घोड़े पर बैठाकर भी दिखाया, गोविन्द ने। ऐसे ऐसे खेल दिखाये कि देखने वाले दंग रह गये। लेकिन राजा चन्द्रसेन की बारह रानियों का ध्यान

खेल देखने से हटकर सुलखा से उलझने में लगा था। चिन्तित व्यक्ति को इन्द्र का ऐश्वर्य भी सुखी नहीं कर सकता। सुभामा ने कड़े स्वर में सुलखा से कहा—

"सुलखा की बच्ची ! मैं तेरी खाल खिचवा लूंगी। आँख खोलकर देख यह कौन है। जिसे तू खड्ड में फेंक आई थी, वही है या कोई और ? तूने इसे मारा नहीं ? धोखा दिया है हमें। बता अब क्या करेगी ?"

सुलखा ने कहा—

"महारानीजी ! अगर मेरी खाल खिचवाने से ही आप का सन्ताप मिटता हो तो जरूर खिचवा लें।"

मदनध्वजा बोली—

"सुलखा ! बात को समझाने की कोशिश कर। जानती है, भेद खुल जाने से हमीं पर नहीं, तुझ पर भी संकट आयेगा। तूने ऐसा कच्चा काम क्यों किया ? इतना धन लेकर भी तूने धोखा दिया तो गुस्सा नहीं आयेगा ?"

सुलखा ने सफाई दी—

"महारानीजी ! मैंने कोई धोखा नहीं दिया। मेरा काम यही था कि मैं यह सिद्ध कर दूं कि चन्द्रावती ने श्वान-सुतों को जन्म दिया है। साथ में यह भी कि चन्द्रावती का मान घट जाए। वह परित्यक्ता का जीवन जिये और आपके स्वामी आपके ही हो जाएं। सोलह-सतरह वर्ष से यही सब हो रहा है। फिर धोखा कैसा ?"

"यह बात नहीं है सुलखा !" सुभामा बोली—"तेरी

सफाई काम के अधूरेपन पर परदा नहीं डाल सकती। क्या तूने इन्हें मिटाने का वचन नहीं दिया था ?"

सुलखा बोली—

"महारानीजी ! मैंने यह नहीं कहा था कि मैं अपने हाथ से गला घोंटकर मार दूंगी। मैंने वही किया था, जिससे ये दोनों बच्चे मर जायें। अब बच गये तो मेरा क्या दोष ? यह तो बचने वाले का भाग्य है कि काल के गाल में से भी बच जाये। इस समय गोविन्दसिंह जिन्दा है तो अपने भाग्य और आपके दुर्भाग्य के कारण। अब मैं क्या कर सकती हूँ ?"

अलका ने बात को साधते हुए कहा—

"सुलखा ! जीवित गोविन्दसिंह हम सभी के लिए खतरा है। इसलिए अब तुझे किसी भी ढंग से इस पले-पुसे को ही मारना होगा। कुछ भी हुआ है, काम तो अधूरा रह ही गया। अब कैसे भी मार दे इसे।"

सुलखा बोली—

"महारानियो ! इस समय तो जैसी आप सब वैसी ही मैं। चन्द्रावती के प्रसव के समय सब कुछ मेरे हाथ में था और आप बारहों असमर्थ थीं। अब तो जो मैं कर सकती हूँ, वह आप भी कर सकती हैं। आपकी शक्ति अब मुझसे ज्यादा है। अतः इस बार आप ही इसे ठिकाने लगायें।"

"ठीक है, मैं ठिकाने लगाऊँगी।" पटरानी सुभागा ने कहा—"देखती जा, मैं क्या करती हूँ।"

इसी समय गोविन्द घोड़े की कलाबाजियां दिखाकर

अपने शिविर को लौट रहा था। मैदान में दूसरे प्रतियोगी उतर रहे थे। पटरानी सुभामा ने अपने कपड़े फाड़ लिये और चिल्लाई—

"पकड़ो-पकड़ो, बचाओ।"

हलचल मच गई। सेवकों की भगदड़ मची। राजा चन्द्रसेन भी रानियों के मंच की ओर आये। उन्होंने पूछा—

"क्या हुआ?

सुभामा हांफ रही थी। अलका ने रहस्य खोला—

"स्वामी! अनहोनी हो गई। यह कौन घुड़सवार था? अभी-अभी बाज की तरह बहन सुभामा पर झपटा और खींचकर घोड़े पर बैठाना चाहा। हम झपटीं तो भाग गया। यह खेल दिखाने आया था या हमारा अपहरण करने? क्या आपके शासन में अनुशासन मिट गया?"

सुभामा की कृत्रिम हँफहँफी रुक चुकी थी। वह बोली—

"स्वामी! उस दुष्ट से बचाओ। वह फिर भी आ सकता है। मेरे साथ ही उसने ऐसा दुस्साहस किया तो चम्पापुरी की बहू बेटियों का क्या होगा?"

"अभी लो!" राजा चन्द्रसेन क्रोध में बोला—"मैं तो उस कमीने को भारी पुरस्कार देना चाहता था। अब उसे सीधा यमलोक पहुंचाऊँगा।"

सेवक आज्ञा की प्रतीक्षा में खड़े थे। उन्हें तो पता ही नहीं था कि क्या हुआ। उन्होंने तो बस पटरानी सुभामा की

चीख ही सुनी थी। राजा ने इन सेवकों को आदेश दिया—

"जिस घुड़सवार ने अभी-अभी घोड़े की कलाबाजियां दिखाई थीं, उसे पकड़ लो। चारों ओर घेरा डाल दो। भागने न पाये। अब खेलों को बन्द करो।"

आदेश पाते ही सशस्त्र सैनिक दौड़ पड़े। वे चिल्लाते जाते थे कि घुड़सवार जाने न पाये। उसने महारानी का अपमान किया है।

गोविन्द के कानों में ये आवाज पड़ीं तो सोचा भिड़ जाऊँ और इनके दांत खट्टे करूँ। लेकिन बाबा लालगिरि को दिया गया आश्वासन याद आ गया, तो सीधा कुटी की ओर गया और बाबा को सब वृत्तान्त सुनाया। गम्भीर होकर बाबा बोले—

"वत्स ! अब यहाँ से जाने का तुम्हारा समय आ गया। इसी समय यहाँ से चले जाओ। अपनी बहन को भी साथ ले जाओ।"

"आपको छोड़कर ?" रोने लगा गोविन्द।

बाबा ने अविचलित भाव से कहा—

"जाना ही होगा गोविन्द ! समय का आदेश सभी को मानना पड़ता है। यहाँ से जाने के बाद ही तुम्हारा भाग्योदय होगा। पश्चिम दिशा की ओर बढ़ जाना। तुम पर संकट भी आयेंगे। धर्म और धैर्य का साथ मत छोड़ना। कांटे फूल बन जायेंगे। मेरी शिक्षाओं को सदा ध्यान में रखना। परोपकार, सत्यवादिता, संतसेवा, धर्माराधन—ये सब तुम्हारी रक्षा

करेंगे। जब भी ऐसा संकट आये, जिसका निवारण तुम न कर सको, मेरा स्मरण करना, मैं स्मरण करते ही आ जाऊँगा।"

"लेकिन अकेला?" गोविन्द ने फिर शंका व्यक्त की तो बाबा बोले—

"गोविन्द! जीव अकेला ही होता है। संगी-साथी और परिवार तो कर्म भोगों का प्रपंच हैं। चिन्ता मत करो। अदृश्य रूप से मैं सदा तुम्हारे साथ रहूँगा। फिर भी तुम्हारी रक्षा के लिए मैं तुम्हें कुछ दिव्य चीजें भी दे रहा हूँ।"

इसके बाद बाबा ने अपनी योग-विद्या से चार चीजें प्रकट कीं। ये चार चीजें थी—उड़नखटोला, डोर, लकुट और मेखली। इनके गुण भी समझा दिये।

चम्पकलता और गोविन्द ने राजा के सैनिकों के घोड़ों की टापें कुटी की ओर आते सुनीं तो दोनों खटोले पर बैठे और आकाशमार्ग से पश्चिम दिशा की ओर उड़ चले।

दोनों एक जंगल में उतरे। गोविन्द ने चम्पकलता से कहा—

"अब हमें कोई खतरा नहीं है। चम्पापुरी से योजनों दूर निकल आये हैं। अब पैदल ही चलेंगे।"

"पैदल क्यों?" चम्पकलता ने कहा—"जब आकाश-गामी खटोला साथ है तो पैदल क्यों चलें?"

गोविन्द बोला—

"प्यारी बहन! काम तो धरती पर चलने से ही चलेगा। ऊँचा उड़कर भी धरती पर ही उतरना पड़ता है।

दूसरी बात है, बाबा का वह आदेश, जो उन्होंने इन चा दिव्य वस्तुओं के उपयोग-प्रयोग के बारे में दिया था। ज हमारी शक्तियां जवाब दे जाएँ, तभी हम इनका प्रयोग करें बाबा यह भी कहते थे कि दिव्य शक्तियों का प्रयोग परसे या परोपकार में ही करना चाहिए। पर-पीड़न में तो कभ भी नहीं। अपने लिए भी कम-से-कम।"

"जैसा ठीक समझो।" चम्पकलता ने इतना ही कहा फिर गोविन्दसिंह ने चारों चीजों को सूक्ष्म करके समेटा औ वन-ही-वन दोनों आगे बढ़ गए। बहन की थकान का अनुभ करते हुए गोविन्द ने चम्पकलता से कहा—

"बहन! घबराना नहीं। जितना तुम चल सकोगं उतना ही चलकर किसी भी वृक्षमूल में वन में ही रा बितायेंगे।"

"सो तो ठीक है।" चम्पकलता ने कहा—"लेकिन यह क्रम कब तक चलेगा?"

गोविन्दसिंह ने बताया—

"जब तक कोई नगर न आये, तभी तक यह क्र चलेगा।"

× × ×

राजा चन्द्रसेन के सैनिक हाथीसिंह पहलवान को घेर कर राजा के पास ले आये और बोले—

"स्वामी! घुड़सवार तो हमें मिला नहीं। जाने कहाँ उड़ गया? लेकिन वह इसी हाथी का साथी था। यह बताता

नहीं है।"

हाथी ने राजा से कहा—

"अन्नदाता ! आपके सैनिक तो हमें व्यर्थ ही तंग कर रहे हैं। इस उत्सव में दूर-दूर के प्रतियोगी आते हैं। सभी से हमारी बातचीत होती है। इसका यह मतलब तो नहीं कि सभी हमारे साथी होते हैं। मैं उस घुड़सवार को बिल्कुल नहीं जानता।"

राजा ने हाथी की बात का विश्वास कर लिया और बोला—

"तुम लोग, घोड़े की टापों को देखते हुए उसका पीछा करो। कहीं-न-कहीं मिल ही जायगा। जैसे भी हो उसे पकड़-कर ले आओ। यदि कोई उसका संरक्षक भी मिले तो उसे मेरी आज्ञा सुना देना।"

सैनिकों ने अपने घोड़े दौड़ाये और जब बाबा लाल-गिरि का आश्रम आया तो अनुमान पक्का किया कि यहीं होगा, महारानी का अपराधी। बस चारों ओर से बाबा का आश्रम घेर लिया गया। कुछ सैनिक बाबा के पास पहुँचे और उनमें से एक बोला—

"तुमने किसी घुड़सवार को ... । हमारे हवाले करो। नहीं तो तु ... जायगा।"

बाबा कुछ नहीं बोले। शान्त ... ने कहा—

"इस ढोंगी से तो बाद में निबटेंगे। पहले आश्रम की तलाशी ले लो। यहीं कहीं छिपा होगा।"

गोविन्दसिंह तो वहाँ था ही नहीं। मिलता कहाँ से? झल्लाये हुए सैनिकों ने बाबा से पुनः कहा—

"राजा के हुक्म की अवहेलना करके तुमने घुड़सवार को कहीं छिपाया है। अब हमारे साथ चलो, नहीं तो हम बाँधकर ले जायेंगे।"

अब बाबा को क्रोध आया। लाल आँखें निकालते हुए बाबा बोले—

"धूर्त सैनिको! व्यर्थ ही मैं तुम्हें यमलोक भेजना नहीं चाहता। मैं चाहूँ तो तुम्हें अभी भस्म कर सकता हूँ। चले जाओ यहाँ से। साथ मेरा आदेश भी लेते जाओ। अपने राजा को सुना देना।"

बाबा का क्रोध देखकर सैनिक थर्रा गए। बाबा ने पुनः कहा—

"अपने राजा से कहना कि उसके सैनिकों ने मेरे आश्रम का अपमान किया है। वह अपने सभासदों सहित मुझसे आकर क्षमा माँगे। यदि शाम तक आकर मुझसे अपने अपराध की क्षमा नहीं माँगी तो उसकी समस्त सेना, कोष, राजभवन—सब भस्म कर दूँगा।"

भीगी बिल्ली बने हुए सैनिक चुपचाप वापस हो गए और बाबा का आदेश राजा को सुना दिया। राजा भीतर-ही-भीतर डरा और महामन्त्री सुबुद्धि से पूछा—

"अब क्या करना चाहिए ?"

मन्त्री बोला—

"राजन् ! आप बाबा लालगिरि को नहीं जानते, मैं जानता हूँ। वह सिद्ध बाबा है। उसने अखण्ड ब्रह्मचर्य का पालन करते हुए अपने तपोबल से अनेक सिद्धियाँ प्राप्त की हैं। वह उच्चकोटि का योगी है। जैसा कहता है, करता भी है। उसके क्रोध को जगाना हमारे हित में नहीं है। साधु-संत तो वैसे भी सभी सम्प्रदायों के वन्दनीय होते हैं। अतः हमें बाबा लालगिरि से क्षमा माँग ही लेनी चाहिए।"

राजा राजी हो गया। मन्त्रियों सहित वह बाबा लालगिरि के आश्रम पहुँचा और अपने अपराध की क्षमा माँगी। संतहृदय क्षमाशील होता ही है। बाबा ने राजा को क्षमा कर दिया। राजा वापस आया और रानियों को समझाया—

"डरपोक घुड़सवार तो भाग गया। अब वह भूलकर भी चम्पापुरी नहीं आ सकता। जो हमारे भय के कारण जीवित ही मर गया, उसे क्या मारना।"

रानियों ने भी अपना मन आश्वस्त किया कि यदि वह चम्पापुरी में रहता तो भण्डा फूटने का डर भी था। अब वह यहाँ है ही नहीं तो हमें क्या चिन्ता।

राजा चन्द्रसेन अपने राज-काज में लग गया और बाबा लालगिरि अपनी साधना में लग गए। समय बीतता रहा। बारहों रानियाँ, तेरहवीं सुलक्षा दाई और चौदहवाँ राजा चन्द्रसेन गोविन्दसिंह की बात भूल-से गए। परित्यक्ता रानी

चन्द्रावती तो अपने दुःख को हर समय याद रखती। उसके उपेक्षित जीवन को अठारहवाँ वर्ष चल रहा था। पापोदय के साथ उसे अपने पुण्योदय पर भी अटूट विश्वास था।

× × ×

भाग्य-भरोसे गोविन्द और चम्पकलता अनजान लक्ष्य की ओर बढ़े जा रहे थे कि वे एक रात वन में ही घिर गए। रात भर पानी पड़ा और तीन रात तीन दिन तक पड़ता रहा। पानी से तर-बतर भीगे कपड़ों में ठिठुरे हुए थे दोनों। बड़ा भारी संकट था—कहाँ जाएँ क्या करें। चम्पकलता ने जाड़े की फुरफुरी लेते हुए कहा—

"भैया, अब क्या होगा? इस संकट से कैसे उबरेंगे? पानी तो बन्द होने का नाम ही नहीं लेता।"

गोविन्द बोला—

"बहन! संकटों से मन मजबूत बनता है। घबराओ नहीं। इस नश्वर संसार में कोई भी चीज टिकाऊ नहीं—दुःख भी नहीं। न तो सदा अँधियारी रात रहती है और न सदा दुःख के बादल ही घिरे रहते हैं। जैसे मनुष्य के दिन बदलते हैं, वैसे ही ऋतुएँ भी बदलती हैं।"

"जब तक ऋतु बदलेगी, तब तक तो हम मर मिटेंगे भैया!" चम्पकलता बोली—"लगता है आकाश फट पड़ा है।"

गोविन्द बोला—

"बिना पानी के भी तो मरते हैं। पानी का जीवन में

इतना महत्त्व है कि पानी का एक पर्याय जीवन भी है। हमारे लिए दुखदायी यह पानी बहुतों को जीवनदायी भी है। वन के ताल-तलैया भरेंगे तो वर्षा के अभाव में यहाँ के पशु-पक्षी अपनी तृषा मिटायेंगे।"

फिर चम्पकलता ने कुछ नहीं कहा। तीन दिन बाद पानी रुका और आकाश साफ हो गया। दोनों ने अपने-अपने कपड़े सुखाये। चम्पकलता बोली—

"भइया! पानी बरसना तो बन्द हो गया, पर चारों ओर पानी इतना भरा है कि निकलने को मार्ग ही नहीं।"

गोविन्द ने आश्वासन दिया—

"पहर-दो-पहर में पानी ढरक जायगा। यह तो वर्षा का पानी है। जब भाग्य साथ देता है तो समुद्र का अथाह जल भी मनुष्य को नहीं डुबा पाता। जब तक हमारे कपड़े सूखेंगे, तब तक रास्ता भी साफ हो जायगा।"

दो प्रहर बाद रास्ता तो साफ हो गया, क्योंकि पानी ढरक गया था, पर कीचड़ बाकी थी। उसी कीचड़ में होकर गोविन्दसिंह और चम्पकलता ने वन पार किया तथा आगे सुगमपथ पर चढ़ गए। इस बढ़ने अथवा चलने का नाम ही जीवन है। मनुष्य जब अकेला चलता है तो यात्री कहलाता है। बहुतों को साथ लेकर चलता है तो उसका चलना समाज कहलाता है। चल रहे थे दोनों। □

7

गोविन्दसिंह और चम्पकलता किसी नगर के पास सुन्दर-मनोहारी फल-फूल वाले उद्यान में बैठे हुए थे। उद्यान किसी राजा अथवा कोटीश्वर श्रेष्ठी का मालूम पड़ता था, पर वहाँ रखवाला कोई नहीं था। इस बात पर ज्यादा ध्यान दिये बिना दोनों बहन-भाइयों ने मीठे फल तोड़कर खाये और क्षुधा शान्त की। तदनन्तर गोविन्द ने चम्पकलता से कहा—

"चम्पक ! तुम यहीं विश्राम करो। मैं इस नगर में हो आता हूँ। यहीं बसने-ठहरने की कोई व्यवस्था करके आता हूँ।"

चम्पकलता बोली—

"दूर ही कितना है, मैं भी साथ चलती हूँ। नगर तो अच्छा मालूम पड़ता है। राजभवन के सोने के कंगूरे और ध्वजाएँ कैसे अच्छे लग रहे हैं।"

गोविन्दसिंह ने कहा—

"नगर दूर नहीं है, इसीलिए तो कह रहा हूँ कि साथ चलकर क्या करोगी। कोई पान्थागार तय करके आता हूँ।"

"जल्दी आना।" कहकर चम्पकलता ने गोविन्द को विदा किया। गोविन्द नगर में पहुँचा तो बड़े चक्कर में पड़ा। क्योंकि सब कुछ होते हुए भी नगर जनशून्य था। गोविन्द

घूम-घूम कर नगर देखने लगा। बड़े-बड़े आलीशान भवन खाली पड़े थे। सभी तरह के सामानों की दुकानें यों ही खुली पड़ी थीं। न कोई खरीदार था और न कोई दुकानदार। बड़ा आश्चर्य हुआ गोविन्दसिंह को। सोचने लगा—'सबके सब एक साथ कहाँ भाग गए? कोई तो होता? पूछूं भी तो किससे पूछूं? यह तो स्पष्ट दीख रहा है कि पहले यह नगर आबाद होगा। पर इसकी अनहोनी जनशून्यता का रहस्य समझ में नहीं आता। मनुष्य तो मनुष्य, कोई कुत्ता, बिल्ली भी तो कहीं दिखाई नहीं देता।'

इस तरह आश्चर्यसागर में गोते लगाता हुआ गोविन्दसिंह राजभवन की ओर बढ़ गया। वह खड़ा-खड़ा भवन की शोभा देख रहा था कि तभी रंगकेश नामक एक असुर प्रकट हुआ और फटे बांस की-सी बेसुरी हँसी हँसते हुए बोला—

"वर्षों बाद आज पहली बार घर बैठे भोजन आ गया। तुझे मार कर खाऊँगा।"

इतना कहते ही रंगकेश ने गोविन्द के सिर में एक मुद्गर मारा। मुद्गर के लगते ही गोविन्द मूर्च्छित होकर गिर पड़ा। उसके सिर से रक्त बहने लगा। राक्षस ने कहा—

"होश में आकर फिर लड़ना मुझसे। मैं न तो मरे हुए को खाता हूँ और न मूर्च्छित को मारकर खाता हूँ।"

इतना कहकर रंगकेश भवन की कुट्टिम पर बैठ गया और गोविन्द के होश में आने की प्रतीक्षा करने लगा। इधर जब बहुत देर हो गई तो उद्यान में बैठी चम्पकलता ने सोचा,

'जाने भइया कहाँ अटक गए ? इतनी देर हो गई और वे लौटे ही नहीं । मैं भी चलूं ।'

बाबा लालगिरि की दी हुई चारों चीजें चम्पकलता के पास ही थीं। उन्हें लेकर वह भी जनशून्य नगर में पहुँच गई। आश्चर्य से नगर की जनशून्यता देखते हुए चम्पकलता भी दैव-योग से वहीं पहुँच गई, जहाँ उसका भाई मूर्च्छित हुआ पड़ा था । जब रंगकेश ने चम्पकलता को देखा तो अट्टहास करते हुए बोला—

"अहा ! मेरा ऐसा भाग्य कि एक साथ दो-दो मानवों का भोजन ।"

इधर चम्पकलता ने विचलित हुए बिना मन-ही-मन कहा—'बाबा ! आपके आदेश से मेरा भैया होश में आ जाए और इस असुर को भी ऐसा सबक मिले, जो सब हेकड़ी भूल जाए ।' बाबा के स्मरण से ही गोविन्द उठ बैठा । उसने डोर और लकुट को आदेश दिया कि इस दुष्ट को ठीक करो । जैसे ही गोविन्द उठकर खड़ा हुआ कि रंगकेश उसकी ओर झपटा। ज्यों ही वह कुट्टिम से उतरा कि उसे बाबा की दिव्य डोर ने जकड़ लिया और बाबा का लकुट उसकी पिटाई करने लगा । अब तो रंगकेश हाहाकार करने लगा । 'हाय मरा, हाय मरा' कहते हुए वह गोविन्द के चरणों में गिरकर बोला—

"मुझे प्राणदान दो ! मैं आपका सेवक बनकर रहूँगा, जैसा कहोगे, वैसा करूँगा ।"

गोविन्द ने डोर-लकुट को आदेश दिया—

"बाबा के आदेश से इसे अब छोड़ दो।"

रंगकेश मुक्त हो गया तो गोविन्द से बोला—

"अब कहो, क्या आज्ञा है ?"

गोविन्द ने आज्ञा दी—

"इस नगर को बसाओ।"

रंगकेश बोला—

"आनन्दपुर नाम के इस नगर को मैंने ही वीरान किया था और अब मैं ही इसे आबाद भी करूँगा। आप ही यहाँ के राजा होंगे।"

ऐसा ही हो गया। जनशून्य नगर आनन्दपुर बस गया। यहाँ का राजा बना गोविन्दसिंह। आनन्दपुर अब सचमुच ही आनन्दपुर हो गया। राजा गोविन्दसिंह का राजभवन दास-दासियों से भर गया। उसके दरबार में भी यथायोग्य मन्त्री सभासद नियुक्त हो गए। बहन-भाई—दोनों आनन्दपुर में आनन्द से रहने लगे। जब सब यथावत् और अनुकूल हो गया तो एक दिन चम्पकलता बोली—

"भैया ! और सब तो ठीक हो गया, पर एक भाभी की कमी मुझे खटकती है। मेरे लिए एक अच्छी-सी भाभी ले आओ।"

"तेरे लिए भाभी ले आऊँ और अपने लिए बहनोई नहीं ?" गोविन्द ने हँसकर कहा—"मालूम पड़ता है, तू मेरे लिए खाना बनाते-बनाते ऊब गई है। कहता तो हूँ कि रसोई तू मत बनाया कर, ब्राह्मणी ही बना दिया करेगी। पर तू तो

मानती ही नहीं। जिद करती है कि भैया के लिए मैं ही बनाऊँगी।"

चम्पकलता बोली।

"कहाँ की बात कहाँ ले गए भैया? ब्याह क्या तभी करोगे, जब मैं रसोई बनाना छोड़ दूंगी? राजा लोग सौ-सौ रानियाँ रखते हैं, वे क्या रसोई बनाने के लिए? मैं टालने नहीं दूंगी। अगर भाभी नहीं लाओगे तो मैं खाना-पीना छोड़ दूंगी।"

गोविन्द ने गम्भीर होकर कहा—

"पगली! बाबा की शिक्षाएँ भूलो मत। मनुष्य स्वयं कुछ नहीं कर सकता। भाग्य ही सब कुछ करता है। मनुष्य का प्रयास दूसरे क्रम पर है। आनन्दपुर का राज्य जैसे संयोग से मिला, वैसे ही तेरी भाभी भी मिलेगी।"

इसी तरह हँसते-खेलते चम्पकलता और गोविन्द के दिन बीत रहे थे।

× × ×

राजा चन्द्रसेन को घूमने का पुराना व्यसन था। अब प्रौढ़ावस्था में यह व्यसन कुछ कम तो हो गया था, पर सर्वथा नहीं मिटा। अब वह आस-पास के वनों में कभी-कभी ही घूम आता था। एक बार उसके मन में उचंग उठी—'बहुत दिनों से कहीं दूर नहीं गया। अब की बार दूर वन में जाऊँ और अकेला ही जाऊँ। अंगरक्षकों का झंझट बेकार है।' यह सोच राजा चन्द्रसेन अकेला ही चल दिया। वन में रात बिताना उसे

अच्छा भी लगता था। वन में रुकते-ठहरते हुए वह गोविन्द-सिंह के राजनगर आनन्दपुर के सीमावर्ती वन में पहुँच गया। जाने क्या सूझा कि एक हिरन पर बाण छोड़ दिया। हिरन तो बच गया, पर गोविन्दसिंह के वनरक्षकों ने राजा चन्द्रसेन को पकड़ लिया। बोले वे वनरक्षक—

"तुम हमारे राजा के अपराधी हो। जानते नहीं, हमारे राजा गोविन्दसिंह के धर्मराज्य में सिंह-अजा एक ही घाट पर पानी पीते हैं। यहाँ आखेट निषिद्ध है। न तो कोई मछुआ मछली पकड़ सकता है और न कोई आखेटक आखेट ही कर सकता है। वैसे तो हमारे राजा बड़े दयालु हैं, पर आखेटक को तो मृत्युदण्ड देते हैं।"

चन्द्रसेन राजा ने गोविन्दसिंह के वनरक्षकों से कहा—

"मैं स्वयं भी आखेट के पक्ष में नहीं हूँ। पहले भी कभी नहीं किया। आज किसी दुष्प्रेरणा से मेरा बाण हिरन पर चल गया। हिरन तो बच ही गया। अब तुम्हारे राजा मुझे किस बात का दण्ड देंगे?"

वनरक्षक बोले—

"ये सब बातें आनन्दपुरनरेश राजा गोविन्दसिंहजी से ही कहना। हमें तो उनकी आज्ञा का पालन करना ही है। आपको मुक्त करना हमारे अधिकार में नहीं है।"

इसके बाद वनरक्षक राजा चन्द्रसेन को गोविन्दसिंह के पास ले गए। वनरक्षकों ने सब बातें बता दीं। राजा चन्द्रसेन एकटक होकर गोविन्दसिंह की मुखच्छवि देखने लगा।

अन्तस् की छिपी पितृ-वत्सलता हिलोरें मारने लगीं। गोविन्द के हृदय में भी अनजान पिता के प्रति श्रद्धा उमड़ आई। वह बोला—

"आइये, आप मेरे पास बैठिये।"

राजा ने संकोच के साथ कहा—

"मैं तो आपका अपराधी हूँ। यहीं ठीक खड़ा हूँ।"

फिर गोविन्द ने राजा चन्द्रसेन का हाथ पकड़कर उसे अपने ही सिंहासन पर बैठाया और कहा—

"अपराध त्याज्य है, अपराधी नहीं। आप तो धर्मनिष्ठ शासक स्पष्ट दीख रहे हैं। मैं तो यह देखकर चकित हूँ कि आपका बाण एक तृणभक्षी निरीह हिरन पर चल कैसे गया।"

"जैसे भी चला, अपराध तो हो ही गया है। मेरे मन की शान्ति के लिए कुछ दण्ड तो दीजिए ही।"

"दण्ड इतना ही है कि आप सदा के लिए अपने राज्य में भी आखेट निषेध करा दें।" गोविन्दसिंह ने कहा—"लेकिन अब आपको यों नहीं जाने दूंगा। आप मेरे श्रद्धेय अतिथि बनकर कुछ दिन आनन्दपुर में ठहरें।"

राजा चन्द्रसेन ने भी गोविन्दसिंह का आग्रह स्वीकार कर लिया। महीने भर रहने के बाद चन्द्रसेन ने चम्पापुरी जाने की अनुमति माँगते हुए गोविन्दसिंह से कहा—

"आपने कुछ ऐसा जादू कर दिया है कि आपको छोड़कर जाने को मन तो करता नहीं है। बिटिया चम्पकलता भी बड़े स्नेह से भोजन कराती है। लेकिन शासन की चिन्ता के कारण

मैं अब चम्पापुरी जाना चाहता हूँ।"

गोविन्दसिंह बोला—

"जादू तो आपने किया है। जाने क्यों आपका लाड़-प्यार मुझे पिता का-सा लगता है। लेकिन आप मुझे आप-आप न कहा करें। मैं तो वैसे भी आपके पुत्र के समान हूँ। आपका शासन तो सुयोग्य मंत्री सम्हाल लेंगे। पर मुझे आपसे अभी कुछ सीखना है। मैं तो नया-नया राजा हूँ। उम्र से भी तरुण हूँ।"

गोविन्दसिंह के विशेष आग्रह पर राजा चन्द्रसेन को रुकना पड़ा। आनन्दपुर में रहते हुए उसे छह महीने बीत गए। दोनों में इतना अगाध प्रेम हो गया कि एक दूसरे को छोड़ने को मन ही नहीं करता था। अन्त में राजा चन्द्रसेन ने यह आश्वासन दिया कि चम्पापुरी की राज-व्यवस्था देखकर पुनः जल्दी ही आनन्दपुर आऊँगा। इस आश्वासन के बाद गोविन्दसिंह ने चन्द्रसेन को विदा दे दी।

यथासमय चन्द्रसेन चम्पापुरी पहुँचा। मंत्रियों ने आश्चर्य से पूछा—

"राजन्! हम तो बहुत घबरा गए थे। इतने दिन तक आप कहाँ रहे? क्या किसी दुष्ट राजा ने अकेला जानकर बन्दी बना लिया था।"

राजा ने रहस्यमय ढंग से —

"आप लोगों का अनुमान

एक तरुण राजा ने बन्दी

बन्दीगृह ऐसा था कि मेरा मन वहाँ बार-बार रहने को करता है। अभी फिर भी जाऊँगा।"

"ऐसी क्या बात है ?" महामंत्री ने पूछा—"बन्दीगृह में बार-बार जाने का मन किसका करेगा ?"

राजा चन्द्रसेन बोले—

"यही तो उस बन्दीगृह की विशेषता है। प्रेम की बेड़ियों में बँधे रहना किसे अच्छा नहीं लगेगा। सच्ची बात यह है कि मुझे अपना एक और घर मिल गया है। मेरे कोई सन्तान नहीं थी, पर भाग्य से आनन्दपुर का राजा गोविन्दसिंह मुझे पिता का सम्मान देता है। उसी के पास मैं छह महीने तक रहा। उस नर-पुंगव ने रंगकेश असुर को वश में करके जन-शून्य नगर में आनन्दपुर बसाया और वहाँ का राजा बन गया। उसकी बहन चम्पकलता तो साक्षात् सरस्वती जैसी है।"

जब मंत्रियों के आश्चर्य का समाधान हो गया तो रानियों ने तरह-तरह के प्रश्न पूछकर अपने मन की दुविधा मिटाई। राजा चन्द्रसेन ने रानियों से भी आनन्दपुर के हाल-चाल कहे। जब कुछ दिन बीत गए तो राजा ने पुनः आनन्द-पुर जाने की इच्छा सुभामा के सामने प्रकट की तो पटरानी सुभामा बोली—

"अभी कैसे जा सकते हैं ? मुझे भैया वीरसिंह ने बुलाया है। बहुत दिनों से मैं अपने पीहर गई भी नहीं। इस बार अपनी सभी सौत-बहनों को वहाँ ले जाऊँगी।"

राजा ने पूछा—

"तुम्हारे पीहर विजयवाड़ा में ऐसी क्या बात है जो तुम्हारे भैया राजा वीरसिंह ने तुम बारहों को वहां बुलाया है।"

पटरानी ने कहा—

"बिना किसी विशेष बात के क्या कभी बहन भाई के घर नहीं जाती? जब हम लौट आयें, तब आप आनन्दपुर गोविन्दसिंह के पास चले जाना। महीने-दो-महीने में हम लौट आयेंगी।"

राजा ने अनुमति दे दी। रक्षक सैनिकों के साथ रथों में बैठकर सुभामा आदि रानियों ने विजयवाड़ा की ओर प्रस्थान कर दिया। इधर आनन्दपुर में गोविन्दसिंह को भी राजा चन्द्रसेन का वियोग सता रहा था। उसने अपनी बहन चम्पकलता से कहा—

"बहन! पितातुल्य राजा चन्द्रसेन तो राजकाज में फँस गए। अब तो वे शायद कुछ दिन बाद भले ही आयें।"

"तो क्या आप चम्पापुरी जाना चाहते हैं?" चम्पकलता ने पूछा—"वहाँ जाना तो संकटपूर्ण रहेगा। बाबा की ऐसी आज्ञा नहीं थी कि हम पुनः चम्पापुरी लौटें। इसी राजा ने हमारे पीछे सैनिक दौड़ाये थे। राजा हमें पहचान नहीं पाया था, तभी इतना प्यार करता था।"

गोविन्द बोला—

"मैं ही अब चम्पापुरी जाना चाहता हूं। कुछ भी रहा हो, अब तो राजा चन्द्रसेन बड़े वत्सल लगते हैं। उन्होंने

वचन दिया है तो आयेंगे अवश्य। मैं तो यह कह रहा था कि जब तक हम कहीं और ही घूम आयें। यहाँ मेरा मन नहीं लगता।"

"विचार तो अच्छा है।" चम्पकलता बोली—"पर मैं स्थलमार्ग से नहीं जाऊँगी।"

"तेरे मन की मैं जानता हूँ।" गोविन्दसिंह बोला—"बाबा की चारों चीजें लेकर ही चलेंगे। खटोले पर बैठकर जहाँ की इच्छा करेंगे, बाबा का उड़नखटोला वहीं पहुँचा देगा।"

इसके बाद गोविन्दसिंह ने शासन-भार मंत्रियों पर छोड़ा और चम्पकलता के साथ उड़नखटोले पर बैठकर विजयवाड़ा नगर को प्रस्थान कर दिया।

× × ×

गोविन्दसिंह ने विजयवाड़ा के राजोद्यान में अपना उड़नखटोला उतारा। उसके दिव्य रूप को देखकर माली-मालिन का साहस इतना नहीं हुआ कि उसके पास जाएँ। मालिन ने माली से कहा—

"आकाश से उतरे हैं। कोई देवी-देवता मालूम पड़ते हैं, या फिर कोई विद्याधर होंगे।"

"अपने बाग में उतरे हैं तो हमारा भी तो कुछ कर्तव्य है? तू ठंडा पानी लेकर जा।" माली ने मालिन से कहा—"चला तो मैं ही जाता, पर साथ में एक लड़की भी तो है।"

"तो फिर हम दोनों ही चलें।"

मालिन ने प्रस्ताव रखा तो माली बोला—

"जिद क्यों करती है ? पहले तू ठंडा पानी पिला श्रा।"

झारी में पानी लेकर मालिन गोविन्दसिंह श्रौर चम्पकलता के पास पहुँची। सहमते-सकुचाते हुए उसने दोनों को पानी पिलाया। बदले में चम्पकलता ने मालिन की पानी से खाली झारी स्वर्णमुद्राश्रों से भर दी। उसके पास बाबा लालगिरि की दी हुई, जो दिव्य मेखली थी, उसमें यह गुण था कि उसमें हाथ डालकर जो इच्छा करो सो निकाल लो श्रौर चाहे, जितना ले लो। इसी में से स्वर्णमुद्राएँ निकाल कर दी थीं चम्पकलता ने। फिर तो माली फूलों की भेंट लेकर श्राया। गोविन्द ने उसे भी सोना दिया। माली के बच्चे श्राये तो उन्हें सोने की मुद्राश्रों के साथ मिठाइयाँ भी दे दीं। इन बच्चों ने विजयवाड़ा नगर में हल्ला कर दिया कि हमारे बाग में ऐसे देवता श्राये हैं कि उनसे जो चाहो, वही देते हैं। फिर तो नर-नारी, श्रौर बाल-वृद्ध सभी बाग में श्राये श्रौर श्रपने-श्रपने भाग्य का पुरस्कार सभी ने पाया। रानी सुभामा श्रादि ने भी यह चर्चा सुनी तो ये बारहों भी बाग में श्राईं। जब इन सब ने गोविन्दसिंह को देखा तो बड़ी चकराईं। सुभामा ने श्रन्य ग्यारहों रानियों से कहा—

"यह तो वही है, जिसे हमने चम्पापुरी में देखा था। श्रब क्या करें ?"

श्रलका ने कहा—

"भैया वीरसिंह से कहो। वे तो यहाँ के राजा हैं। इसे मरवा देंगे।"

"ठीक है, मैं कहूँगी।" इतना कह तुरन्त ही सुभामा सबको साथ लेकर राजभवन पहुँची। उसने अपने भाई वीरसिंह राजा से कहा—

"भैया, जिस देवी-देवता का नगर में हल्ला मच रहा है, वे तो साधारण मनुष्य हैं। बहन-भाई दो हैं। उनके पास जादू की मेखली है। उसी में से सबको बाँटते हैं। आप तो यहाँ के राजा हैं, वह मेखली आप उससे छीन लो।"

वीरसिंह ने कहा—

"बहन सुभामा! इतनी-सी बात के लिए मैं उसके पास क्या जाऊँगा। इस काम को तो सैनिक कर लेंगे।"

फिर राजा वीरसिंह ने अपने सैनिकों को आदेश दिया कि बाग में जो भी हों, उनसे जादू की मेखली छीन लाओ। वीरसिंह के सैनिक बाग में पहुँचे। उन्होंने गोविन्दसिंह को डराया, धमकाया। गोविन्द ने मन-ही-मन बाबा की डोर और लकुट को आदेश दिया कि बाबा के आदेश से इन सैनिकों को ठीक करो। बस कहने की देर थी कि डोर लम्बी होती चली गई और सैनिकों को बांध दिया। फिर लकुट ने पिटाई करना शुरू किया। सब-के-सब चीत्कार कर उठे। लहू-लुहान हो गए। जब सैनिकों ने बार-बार त्राहिमाम् त्राहिमाम् कहा तो गोविन्द ने दया करके उन्हें छोड़ दिया। लहू-लुहान सैनिकों ने जब अपनी व्यथा-कथा राजा वीरसिंह

से कही तो उस पर उल्टा प्रभाव हुआ। वह क्रुद्ध होकर गरजा—

"मैं देखता हूँ उसे।"

वीरसिंह ने सहस्रों सैनिकों की सेना सहित गोविन्दसिंह पर चढ़ाई कर दी। परिणाम वही हुआ जो होना था। वीरसिंह की सैनिकों सहित पिटाई हुई। फिर बार-बार आर्त-पुकार करने पर छोड़ा गया वीरसिंह। मुक्त होने के बाद उसने गोविन्दसिंह से क्षमा माँगी। अपना परिचय दिया और गोविन्द का परिचय पूछा। इसके बाद बाग से लौटकर वीरसिंह ने अपनी बहन सुभामा से कहा—

"बहन ! जिसे तुम तुच्छ मानव समझ रही थीं, वह तो आनन्दपुरी के यशस्वी राजा गोविन्दसिंह हैं। उनकी शक्ति से तो देवदानव भी पार नहीं पा सकते।"

जब आनन्दपुर और गोविन्दसिंह का नाम सुना तो सुभामा के काटे खून नहीं रहा। भय के कारण उसका चेहरा मुरझा गया। चुपचाप उठ गई सुभामा और अपनी सौतों के पास जाकर बोली—

"यह तो वही गोविन्द है, जिसके यहाँ हमारे स्वामी छह-छह महीने पड़े रहते हैं।"

"अरे ! तो ये हमारे शत्रु से इतना प्यार करते हैं ?" धनका ने कहा—"वे तो फिर भी वहीं जायेंगे।"

सुभामा बोली—

"बहन धनका ! शत्रु हमारा है, हमारे स्वामी का नहीं।

उनका तो बेटा ही है। यह बात दूसरी है कि अनजान में वे उसे बेटा करके नहीं जानते, बल्कि पुत्र की तरह तो मानते ही हैं।"

मदनध्वजा ने कहा—

"तो अब तक यह भेद न खुले, तब तक उसे कैसे ही मिटाना होगा।"

सुभामा बोली—

"अब तो सुलखा दाई ही इसे मिटा सकती है। यहाँ से चम्पापुरी चलें और सुलखा को आनन्दपुर भेजें। वह इसे मारकर आयेगी।"

बस फिर इन बारहों रानियों ने विजयवाड़ा से चम्पापुरी को प्रस्थान कर दिया। गोविन्दसिंह भी सैर-सपाटे करके यथासमय आनन्दपुर पहुँच गया। □

8

जब बारहों रानियाँ चम्पापुरी आईं तो राजा चन्द्रसेन
ाँ नहीं थे। वे गोविन्दसिंह के पास आनन्दपुर गये हुए थे।
दु हीं दिन बाद जब राजा चन्द्रसेन गोविन्दसिंह से बिना
ले लौटे तो पटरानी सुभामा ने प्यार-भरा उपालम्भ देते हुए
ा—

"स्वामी! आपके बिना हम तो पीहर रह नहीं सकीं,
ालिए जल्दी लौट आई और आप हमारे आने से पहले ही
ानन्दपुर चले गए? कहीं ऐसा तो नहीं है कि किसी और
मन फँस गया हो?"

राजा ने कहा—

"तुम बारहों से मन बचे तो किसी और से लगे भी।
म्हारे बिना यहाँ मेरा मन नहीं लगा, इसीलिए चला गया
ा। वहाँ भी गोविन्दसिंह मिला नहीं। जाने कहाँ सैर-सपाटे
रने चला गया है?"

पटरानी बोली—

"अब मैं आपको कहीं नहीं जाने दूँगी। अगर जायेंगे तो
प्राण दे दूँगी।"

राजा ने कहा—

"अच्छा अब तभी जाऊँगा, जब तुम अनुमति दोगी। अब तुम पीहर के हालचाल सुनाओ।"

सुभामा ने यह बात छिपा ली कि गोविन्दसिंह उसे विजयवाड़ा में मिला था। अनेक कल्पित बातें बताकर राजा को सन्तुष्ट किया। इसके बाद एकान्त में रानियों ने सुलखा दाई को बुलाया और उससे कहा—

"सुलखा! आनन्दपुरी तो हम जा नहीं सकतीं। तुम ही जा सकती हो। गोविन्द को मारने के हमने तो सभी संभव प्रयास कर लिये। अब तुम्हीं उसे ठिकाने लगा सकती हो। यह मत भूलो कि गोविन्द हमारा ही नहीं, तुम्हारा भी शत्रु है। यदि उसके जन्म का भेद खुल गया तो तुम्हारे भी प्राण नहीं बचेंगे।"

सुलखा बोली—

"जो आप बारहों पर बीतेगी, वही मुझ तेरहवीं पर भी बीत लेगी। आप ही बतायें, मैं क्या कर सकती हूँ। जिसके रक्षक उसके पुण्य होते हैं, उसे तो काल भी नहीं मार सकता।"

सुभामा बोली—

"तू उसे मार नहीं सकती तो क्या प्रयत्न भी नहीं कर सकती? हमें तेरी बुद्धि पर विश्वास है। जब तूने प्रयत्न किया, तभी तो यह सिद्ध कर सकी कि चन्द्रावती ने श्वान-सुतों को जन्म दिया है। कुछ भी कर, गोविन्द को मारने का काम तुझे करना ही होगा।"

सुलखा विचार में पड़ गई। कुछ सोचकर बोली—

"अच्छी बात है, मैं आनन्दपुर जाऊँगी। यदि आपके और मेरे भाग्य ने साथ दिया तो मैं गोविन्द को मार कर ही लौटूँगी।"

पटरानी सुभामा ने झट अपने कण्ठ का हार उतारकर सुलखा दाई को दिया और बोली—

"यह तो प्रारम्भ है। काम पूरा होने पर और भी मनमाना धन दूँगी।"

सुलखा बोली—

"बस आप गुप्तरूप से मुझे आनन्दपुर के पास पहुँचवा दें।"

फिर सुभामा ने एक रथ तैयार कराया। उसमें बैठकर सुलखा आनन्दपुर की ओर चल दी। नगर के पास उतरकर उसने रथ चम्पापुरी को वापस कर दिया। अब सुलखा ने नाटक का सहारा लिया। रात की प्रतीक्षा करने लगी। जब रात हुई तो वह नगर में प्रविष्ट हो गई और राजमहल के पास छिपकर बैठ गई। आधी रात के बाद उसने जोरों से रोना शुरू किया। आँखों में एक भी आँसू नहीं था और नाटकीय रुदन-स्वर ऐसा प्रभावपूर्ण था—मानो विश्व के सभी संकट सुलखा पर ही टूट पड़े हों। महाराज गोविन्दसिंह की नींद उचट गई इस रुदन से। उन्होंने अपने रक्षकों से कहा—

"जाकर देखो, यह कौन दुखिया रो रही है। उसका दुःख दूर करना और तुम लोग कुछ न कर सको तो यहाँ ले आना।"

रक्षक सुलखा के पास पहुँचे और उसके दुःख का कारण पूछा। सुलखा ने रो-रोकर ही कहा—

"मेरा दुःख तुम कैसे दूर कर सकते हो मेरा तो कोई नहीं रहा। अब तो मेरे जीवन में रोना ही लिखा है।"

सैनिक उसे गोविन्दसिंह के पास ले गए। गोविन्दसिंह ने कहा कि तुम अब किसी बात की चिन्ता मत करो। जो भी बात हो, निस्संकोच कहो।

सुलखा बोली—

"मेरी बात का विश्वास कैसे करोगे तुम? विश्वास करो या न करो, जो सच है सो मैं कहे देती हूँ। तरुणाई में मैं विधवा हो गई। मेरा एक भाई था, वह योगी बन गया। बड़ी मुश्किल से पता लगाकर वर्षों बाद मैं अपने भाई बाबा लालगिरि के पास पहुँची।"

"बाब लालगिरि की बहन हैं आप?" एक साथ गोविन्द और चम्पकलता ने पूछा। कृत्रिम आँसू पोंछते हुए सुलखा ने कहा—

"हाँ, मैं बाबा लालगिरि की अभागिन बहन हूँ। उन्होंने तो मुझे अपने पास रखने से इन्कार कर दिया। तब मैंने आपके बारे में भी जान लिया तो यहाँ चली आई। अपने योग बल से ही उन्होंने बताया कि तुम यहाँ हो।"

गोविन्दसिंह बोला—

"तब तो तुम हमारी पूज्य बुआ हो। तुमने संकोच क्यों

किया ? सीधी यहीं चली आतीं।"

सुलखा ने कारण बताया—

"मुझे संकोच इस बात का था कि मैं तुम्हें यह विश्वास कैसे दिलाती कि मैं बाबा नालगिरि की बहन हूँ। यह तो मेरा भाग्य है कि तुमने विश्वास कर लिया, वरना बहुत-से ठग झूठे नाते-रिश्ते बना लेते हैं।"

"छोड़ो ये बातें।" गोविन्दसिंह बोला—"हमें भी एक बुजुर्ग की जरूरत थी। तुम यहां सुख से रहो। यह राजपाट सब तुम्हारा ही है। यहां तुम्हें कोई कष्ट नहीं होगा। सैकड़ों दास-दासियों के साथ हम दोनों भाई-बहन भी तुम्हारी आज्ञा में रहेंगे।"

अब तो सुलखा का आसन राजभवन में जम गया। वह गोविन्द और चम्पकलता पर दिखावे का ऐसा प्यार करती कि जैसे सगी मां भी न करती हो। दिन बीतते रहे और सुलखा इस फिराक में लगी रही कि किसी तरह गोविन्द के भोजन में विष मिला दूं। लेकिन चम्पकलता हर समय रसोई में रहती, इसलिए सुलखा की दाल नहीं गली। जब कुछ दिन यों ही बीत गये तो सुलखा ने गोविन्द को मारने का एक नाटक रचा। एक दिन वह रात को जोर-जोर से कराहने लगी। गोविन्द ने पूछा—

"बुआ, अचानक ही क्या हो गया? अभी तो आप ठीक थीं।"

कराहते हुए बोली सुलखा—

"क्या बताऊँ बेटा ! मेरी आँखों में प्राण-लेवा दर्द उठ है। अब तो यह दर्द मुझे मारकर ही छोड़ेगा।"

गोविन्द बोला—

"घबराओ मत। मैं अभी राजवैद्य को बुलाता हूँ।"

"नहीं मत बुलाना।" सुलखा बोली—"यह दर्द तो मेरी बनाई हुई दवा से ही ठीक होता है। मेरे पास बनी-बनाई दवा थी। यहाँ आने की जल्दी में दवा की डिबिया जाने कहाँ गिर गई।"

चम्पकलता बोली—

"बुआजी ! ऐसी क्या दवा है, जो यहाँ नहीं बन सकती ? आप चीजों के नाम बता दें। सब आ जायेंगी। फिर दवा बना लेना।"

"हाँ-हाँ बुआ चीजों के नाम बता दो।" गोविन्द भी बोला—"मैं अभी रात में ही मंगवा दूंगा।"

सुलखा ने बिलखकर कहा—

"गोविन्द ! मेरी चिन्ता मत करो। मैं तो बूढ़ी हो चली हूँ। इस दर्द से मर भी जाऊँगी तो क्या बिगड़ेगा ? लेकिन मैं तुम्हें ऐसे संकट में नहीं डाल सकती कि तुम्हारे प्राणों पर आ बने। मेरी दवा के दो घटक तो ऐसे हैं कि प्राण देकर भी कोई नहीं ला सकता।"

गोविन्द ने विचलित होकर कहा—

"आप घटकों के नाम तो बतायें।"

चम्पकलता भी बहुत पीछे पड़ी। तब बड़े आग्रह से

बाद सुलखा ने बताया कि सिंहनी का दूध ले आओ पहले। जब यह आ जायगा तो दूसरे घटक का नाम भी बता दूँगी। बस फिर सवेरे ही गोविन्दसिंह सिंहनी का दूध लेने वन में पहुँचा। भाग्य ने एक संयोग भी बना दिया। सिंहनी के बच्चे वन में खेल रहे थे। सिंहनी वहाँ नहीं थी। तभी एक सिंह उन बच्चों पर झपटा। बच्चे आर्तस्वर में चिल्लाये। गोविन्द ने तक-तानकर सिंह के एक ऐसा बाण मारा कि वह वहीं ढेर हो गया। अपने बच्चों की पुकार सुनकर सिंहनी आई तो अपने बच्चों के वैरी सिंह को मरा पाया। बच्चों ने अपनी भाषा में सब बातें अपनी माँ को बता दीं। बड़े कृतज्ञ-भाव से सिंहनी गोविन्द के सामने खड़े होकर पूंछ हिलाने लगी। गोविन्द उसके सिर पर हाथ फेरा और फिर उस साहसी ने स्वर्ण पात्र में उसका दूध भी काढ़ लिया। जब गोविन्द दूध लेकर घोड़े पर चढ़कर चला तो सिंहनी का एक बच्चा भी पालतू कुत्ते की तरह उसके पीछे-पीछे चल दिया। गोविन्द नगर में आया। सिंह-शावक को एक पिंजड़े में बन्द कर दिया और उसका नाम रख दिया, मोहनसिंह। मोहनसिंह को दूध-मलाई खिलाने की उचित व्यवस्था भी कर दी गोविन्द ने। तथाकथित बुआ को सिंहनी का दूध दे दिया। दूध तो दूध, यह तो सिंहनी का बच्चा भी ले आया, यह देखकर सुलखा की आशाओं पर पानी फिर गया। इसके बाद भी उसने दूसरा तीर छोड़ते हुए गोविन्द ने कहा कि बेटा, अब मेरी दवा बन जायगी। अब तो बस गरुड़ की बीट लाना ही रह गया है।

गोविन्द उसे भी लेने चल दिया। जब भाग्य अनुकूल होता है तो असंभव काम भी संभव हो जाते हैं। गोविन्द वन में उसी वृक्ष के नीचे बैठा, जिस पर गरुड़ परिवार रहता था। पेड़ के नीचे गरुड़ की बीट भी काफी पड़ी थी। गोविन्द ने सोचा, 'जिस चीज के लिए आया था, वह तो यहां मिल ही गई। चिन्ता क्या है, घड़ी-दो घड़ी लेट लूं।' यह सोच गोविन्द ने अपना घोड़ा पेड़ से बांध दिया और स्वयं भी वृक्ष मूल में लेट गया। गरुड़ सर्पभक्षी तो होते ही हैं, नर-संहारक भी होते हैं। गोविन्द को गरुड़ मार ही देगा, यही सोचकर तो सुनन्दा दाई ने उसे गरुड़ बीट लेने भेजा था। लेकिन जिनका स्वभाव और जीवन का उद्देश्य दूसरों को सुख पहुँचाना होता है, जगत् में उनको मारने वाला कोई भी नहीं होता। ऐसे परोपकारी की तो देव भी सहायता करते हैं। अहिंसा का अस्त्र ऐसा अमोघ है कि सिंह भी श्वान बनकर पैर चाटने लगता है और क्रोधी आक्रामक के लिए तो गाय भी सिंहनी बन जाती है। फिर भला गोविन्द को गरुड़ से क्या खतरा होता ? उसके मन में दुर्भाव नहीं था, इसलिए किसी से भय भी नहीं था।

पेड़ पर गरुड़-गरुड़नी नहीं थे, उनके चार बच्चे ही थे। चारों बच्चे उड़ना नहीं जानते थे। एकाएक ही गोविन्द की नींद उचट गई, क्योंकि गरुड़-शावक आर्तस्वर में चिल्ला रहे थे। गोविन्द ने देखा कि एक काला सर्प वृक्ष के तने पर रेंगता हुआ ऊपर चढ़ रहा है। दो भागों में बँटी उसकी जीभ

जीभ को देखकर गरुड़ के बच्चे चीख रहे थे। गोविन्द ने अपना कर्तव्य निश्चित किया—'तो यह सर्प अपने वैर का बदला लेगा ? गरुड़ सर्पों को मारकर खा जाते हैं, इसी जातिगत वैर का बदला यह सर्प गरुड़ के बच्चों से लेगा ही। भले ही गरुड़ सर्प का भोजन नहीं है, सर्प इन्हें मार तो देगा। लेकिन मुझे न तो सर्प को मारना है और न गरुड़-शावकों को मरने देना है।' बस फिर बड़ी फुर्ती से उठा गोविन्द। डण्डा खटखटाया और सर्प को ऊपर नहीं चढ़ने दिया। भाग कर सर्प बिल में घुस गया। उसे भी तो अपने प्राण प्यारे थे। उसी समय गरुड़-गरुड़नी उड़ते हुए आये। गोविन्द को देख वे उस पर झपटना ही चाहते थे कि उनके बच्चों ने अपनी भाषा में उन्हें अपनी बात समझा दी। अब तो उन पक्षिनायकों ने अपना एक बच्चा भी गोविन्द को दे दिया। उसके कुछ-कुछ पंख निकल आये थे। महीने भर बाद तो वह खूब उड़ता। गोविन्द ने गरुड़ की बीट ली और गरुड़ के बच्चे को भी साथ लेकर आनन्दपुर पहुँचा वह। इस बार भी सुलखा की आशाओं पर पानी फिर गया। झूठ-मूठ को उसने आँखों की दवा बनाई और उसकी आँखें ठीक भी हो गईं। दवा को हिफाजत से रखते हुए सुलखा ने कहा—

"बेटा गोविन्द ! अब तो इसे सम्हाल कर रखूँगी। तू बड़ा दिलेर है। अपने प्राण संकट में डाल कर ये दोनों चीजें ले आना तेरा ही काम है।"

गोविन्द बोला—

"अब क्यों चिन्ता करती हो बुआ ? गरुड़ का यह बच्चा सदा यहीं तो रहेगा । इसका नाम मैंने दिलेरबन्धु रख लिया है । इसकी बीट बहुतेरी हो जायगी और सिंह-शावक मोहनसिंह को साथ लेकर मैं उसी की माँ का दूध भी ले आया करूँगा ।"

बस फिर सुलखा ने गोविन्द को छाती से लगा लिया और वात्सल्यमयी बुआ का सफल अभिनय करके दिखाया । लेकिन उसके भीतर तो द्वेष की आग जल रही थी । जिन उपायों पर उसे पूरा भरोसा था, उनसे भी गोविन्द नहीं मरा तो अब कैसे मरेगा ? मरने वाले तो एक मामूली-सी ठोकर लगने से मर जाते हैं । पर जिसे भाग्य मारना न चाहे, उसे सुलखा कैसे मार सकती थी ? लेकिन धूर्त-दुष्ट व्यक्ति अपनी दुष्टता नहीं छोड़ते । सुलखा ने भी एक तीसरा उपाय सोच लिया गोविन्द को ठिकाने लगाने का । इस बार भी उसे पूरा विश्वास था कि गोविन्द बचेगा नहीं । इस उपाय को क्रियान्वित करने की भूमिकास्वरूप सुलखा ने चम्पकलता से कहा—

"चम्पक बेटी ! तू गोविन्द से उसके ब्याह के लिए क्यों नहीं कहती ? तेरी भाभी के बिना तो यह राजपुर सूना-सूना लगता है ।"

चम्पकलता ने प्रसन्न होकर कहा—

"बुआजी ! आपने मेरे ही मन की बात कह दी । मैंने तो भइया से बहुत कहा है । पर वे कहते हैं, तेरी भाभी कहाँ

योग्य कोई लड़की भी है ? इसका क्या उत्तर दूं उन्हें ? यदि आपकी दृष्टि में कोई सुन्दर-सुयोग्य राजकुमारी हो तो बतायें ।"

गुलखा बोली—

"राजकुमारी तो ऐसी है, जिसके लिए बड़े-बड़े राजा तरसते हैं । वह विद्याधर-सुता है । सर्वथा तेरे भाई के योग्य है, पर उसका मिलन भी असम्भव जैसा है ।

अन्तिम वाक्य सुनते हुए गोविन्द भी आ गया और बोला—

"असम्भव कार्य को करने का मैं प्रयास तो कर ही सकता हूं । आप विद्याधर-सुता का स्थान बताइये ।"

"सब कुछ बताती हूँ ।" गुलखा ने गोविन्द से कहा—"तुम्हारे नगर आनन्दपुर से बारह कोस दूर नैऋत्य कोण में एक वापी है । उस वापी में शीलावन्ती नाम की एक विद्याधर-सुता रहती है । तुम तीन आवाजें देना कि शीलावन्ती वापी से बाहर आकर मुझ से विवाह करो । यदि तुम्हारे कहने से वह बाहर आ गई तो उसके साथ अवश्य विवाह कर सकोगे ।"

गोविन्द ने उसी समय निश्चय किया—

"तब तो मैं अवश्य जाऊँगा ।"

इसके बाद गोविन्दसिंह ने अपनी सभा में शीलावन्ती की बात कही और सेनापति को भी आदेश दिया कि सेना तैयार करो । सुनते ही सब काँप गए । मरना कोई नहीं चाहता । गोविन्द के महामन्त्री ने कहा—

पर भी यही बीती। अब क्या करे, गोविन्द? अब तो उसका कण्ठ भी अवरुद्ध था। ऐसे संकट में बाबा लालगिरि की याद आई। बाबा का ध्यान डोल गया। योगविद्या से उन्होंने सब देख लिया और संकल्पयोग से तुरन्त गोविन्द के पास आये। बाबा ने उनके गाल पर एक चांटा मारा और अपनी एक झलक दिखाकर पुनः अपने आश्रम को लौट गए। गोविन्द ने सोचा—'बाबा ने मुझको चांटा क्यों मारा? अवश्य मुझसे कोई भूल हुई है। हां, याद आया। मैं बाबा का आदेश भूल गया। अपने आदेश से ही शीलावन्ती को बाहर निकालना चाहा था, इसीलिए पत्थर बना।'

अपनी भूल का सुधार करके गोविन्द ने पहली आवाज दी—

"बाबा के आदेश से शीलावन्ती वापी से बाहर आकर मुझसे विवाह कर।"

इस पहली आवाज में ही गोविन्द वक्ष तक ठीक हो गया। फिर दो आवाजें और दीं तो उसकी समस्त सेना और वह स्वयं पूर्ववत् ठीक-ठाक हो गए। अब कोई भी पत्थर का नहीं रहा। इसके बाद गोविन्द ने चौथी आवाज और दी तो शीलावन्ती वापी से बाहर निकली और सीधी चम्पापुरी पहुंची बाबा लालगिरि के पास। बाबा से शीलावन्ती बोली—

"बाबा, मुझे बचाओ। गोविन्द मुझे तंग कर रहा है। उसने मेरी सब विद्याएं नाकाम और निष्फल कर दी हैं। इनसे

इन शब्दों से मेरी वाणी में प्राण आ रहे हैं। मैं विद्याधर-सुता एक मानव से विवाह कैसे कर सकती हूँ?"

क्रुद्ध स्वर में बोले बाबा गोरखगिरि—

"शीलावती! मेरी सिखाई हुई विद्याओं का तूने दुरुपयोग किया है। तुझे विद्याओं से वंचित करता हूँ। मैं गोविन्द को नहीं रोक सकता।"

अब शीलावती अपने पिता विद्याधर के पास पहुँची। बाबा से तो अब उसे कोई आशा नहीं थी, क्योंकि उन्होंने तो टका-सा जवाब दे दिया था। लेकिन उसके पिता ने उसकी बात सुनी और क्रोध में बोला विद्याधर—

"एक मनुष्य का इतना साहस जो मेरी पुत्री से विवाह करना चाहे? मैं देखता हूँ उसे।"

अब तो क्रमशः विद्याधरों और उनकी सेनाओं ने [illegible] और उसकी सेना को घेर लिया। दोनों में युद्ध छिड़ गया। तब [illegible] गोविन्द ने बाबा [illegible] की दी हुई [illegible] और [illegible] को याद किया कि बाबा के आदेश से विद्याधरों को पार पहुँचा। [illegible] आदेश की देर थी। विद्याधरों की सेना [illegible] हुई। विद्याधर पराजित हो गया। अब [illegible] पिता आया और [illegible] होकर बोला—

"मेरा सौभाग्य है कि आप मेरे [illegible] हों। [illegible] मेरे देश वालों को इस [illegible] से [illegible]"

फिर तो वहीं धूम-धाम से विवाह [illegible] हो गये। शीलावती के [illegible]

उनकी सेनाएँ पत्थर बनाई थीं, वे सब ठीक कर दीं। वे सब गोविन्द को प्रणाम कर अपने-अपने देशों को गए। बड़े उत्साह के साथ गोविन्द का विवाह शीलावन्ती के साथ हो गया।

शीलावन्ती को लेकर गोविन्द आनन्दपुर आया। नगर में बड़ा भारी उत्सव मना। इस उत्सव की भीड़-भाड़ में ही सुलक्षा चुपचाप खिसक गई। उसने चम्पापुरी पहुँचकर सुभामा के सामने सब वृत्तान्त सुनाकर कहा कि गोविन्द को मारना मेरे लिए तो असंभव है। तब सुभामा ने बीड़ा उठाया अब मैं ही उसे मारूँगी।

इधर सुहाग-रजनी की रात आई। शीलावन्ती ने गोविन्द के चरणों में एक पर्चा रखा। भूर्जपत्र पर अंकित शीलावन्ती की भावनाओं को पढ़ने लगा गोविन्द। उसमें लिखा था—

आशा में जीवित रही, मिलें एक दिन कन्त।
बड़े-बड़े आये बली, हुआ सभी का अन्त॥
क्या तारा संग चन्द्रिका, मिली आज तक नाथ?
अब दासी इन चरण की, प्रभुजी करो सनाथ॥

ये दोनों दोहे पढ़ते ही गोविन्द ने चरणों में बैठी शीलावन्ती को पुलककर वक्ष से लगा लिया। फिर दोनों शय्या पर बैठे और बातें करते रहे। रात बीती और फिर दिन भी बीतने लगे। शीलावन्ती और चम्पकलता में बड़ा भारी बहनापा था। दोनों ननद-भाभी बड़े प्यार से रहती थीं। तीन प्राणियों का यह छोटा-सा परिवार बड़ा सुखी था। गोविन्द और चम्पकलता—दोनों ही सुलक्षा बुआ के एकाएक गायब

हो जाने से बड़े चकित थे। उन्होंने मृणाल के आने से शीला-वती को अब तक का वृत्तान्त सुनाया तो धीर [illegible] जानकार और बुद्धिमती शीलावती ने कहा—

"स्वामी! वह कोई डाकिनी थी और निश्चय ही आपको मारने आई थी। अच्छा हुआ कि टल गई। लेकिन अब आपको मेरी एक बात माननी पड़ेगी।"

"बोलो कौन-सी बात?" गोविन्द ने पूछा।

शीलावती बोली—

"ऐसे नहीं, पहले वचन दो।"

गोविन्द ने वचन दे दिया—मंजूर। तब शीला-वती ने कहा—

"आप कहीं भी जायेंगे, मुझे बिना बताये नहीं जायेंगे। या तो मैं आपके साथ चलूँगी या फिर जैसा ठीक समझूँगी, वैसी व्यवस्था करूँगी। अब आप कारण पूछेंगे। तो मैं भी बताती हूँ। कहीं-न-कहीं आपका कुछ-न-कुछ [illegible] चाहता है। मैं अपनी विद्याओं से आपके कुशल-क्षेम की रक्षा करूँगी और उसकी योजनाओं को भी विफल करूँगी। इसे भूलकर भी मेरी अनुमति के बिना नहीं जाइयेगा।"

गोविन्द ने शीलावती की बात मान ली। अब उनके [illegible] का काम शीलावती के ही हाथ में था। वह भी [illegible] बनाकर रही और [illegible] की [illegible] थी।

9

राजा चन्द्रसेन को गोविन्द की याद आई तो निश्चय किया कि अब तो आनन्दपुर चलना ही चाहिए। जब वे आनन्दपुर पहुँचे तो मालूम हुआ कि तरुण राजा गोविन्दसिंह का विवाह भी हो गया है। अतः वे गोविन्द से राजसभा में ही मिले। जब गोविन्द ने राजभवन में चलने का आग्रह किया तो राजा चन्द्रसेन ने यह कहकर इन्कार किया कि अन्तःपुर में बाहरी व्यक्ति कैसे जा सकता है? बस, इसी बात पर क्षुब्ध हो गया गोविन्द। उसका यह क्षोभ श्रद्धा और स्नेह से पूरित था। बोला वह—

"तो आप बाहरी व्यक्ति हैं? फिर अन्तरंग किसे कहते हैं? मालूम पड़ता है, मुझसे आप अब पहले जैसा प्रेम नहीं करते? जैसे मैं आपका पुत्र और चम्पकलता पुत्री है, वैसे ही शीलावन्ती क्या आपकी पुत्रवधू नहीं है? अब बोलो क्या कहोगे?"

चन्द्रसेन गद्‌गद हो गया। कुछ तो कहना ही था, सो कहा—

"मेरी जबान बन्द कर दी आपने। अब क्या कह सकता हूँ। चलूँगा अब तो।"

महारानी शीलावन्ती ने अपने हाथ से ऐसे-ऐसे मिष्टान्न

और खाने की चीजें बनाईं कि राजा चन्द्रसेन मुग्ध हो गए। दो महीने रहे वे आनन्दपुर में। फिर जब चम्पापुरी पहुँचे तो सुभामा आदि से गोविन्द की आवभगत का ऐसा वर्णन किया कि वे जल-भुन गईं। इसी समय सुभामा को एक युक्ति सूझी सो राजा से बोली—

"स्वामी ! प्रेम-प्रीति का यह नियम है कि खाये तो खिलाये भी। आना-जाना, खाना-खिलाना और लेना-देना ये छह मित्रता के आधार हैं। लेकिन आपकी मित्रता तो लंगड़ी है—इकतरफा है। आप अपने मित्र के घर जाते हैं, उन्हें नहीं बुलाते। खाते हैं, खिलाते नहीं। यह तो अन्याय है। कभी आनन्दपुरनरेश को भी तो यहाँ बुलाइए।"

राजा बोला—

"बुला तो लूं। पर जैसा स्वागत वे हमारा करते हैं, वैसा मैं कर पाऊँगा या नहीं, इसमें सन्देह है।"

"कर क्यों नहीं पायेंगे ?" अलका बोली—"हम क्या राजकन्याएँ नहीं हैं ? हम आपके अतिथि के लिए अपने हाथ से विशेष भोजन बनायेंगी।"

राजा चन्द्रसेन सहमत हो गया और पुनः आनन्दपुर पहुँचा। उसने राजा गोविन्द से कहा—

"इस बार जल्दी आया हूँ तो कुछ चकराये होंगे ? लेकिन इस बार मैं जल्दी ही लौटूंगा और आपको साथ लेकर लौटूंगा। मेरी रानियाँ ही नहीं, चम्पापुरी के लोग भी आपको देखना चाहते हैं।"

गोविन्द ने कोई जवाब नहीं दिया और सीधा शीलावन्ती के पास पहुँचा। शीलावन्ती ने कहा कि हम दोनों ननद-भाभी भी साथ चलेंगी। लेकिन निमन्त्रण तो आप अकेले को मिला है। गोविन्द ने बताया कि ऐसी कोई बात नहीं है। जब राजा चन्द्रसेन को पता चलेगा कि तुम भी चल सकती हो तो वे बड़े प्रसन्न होंगे। मैं उनसे कहता हूँ।

सचमुच ही राजा चन्द्रसेन बहुत खुश हुए। यथासमय गोविन्दसिंह, चम्पकलता और शीलावन्ती ने चतुरंगिणी सेना के संरक्षण में चम्पापुरी को प्रस्थान किया। राजा चन्द्रसेन भी साथ थे। यथासमय सब चम्पापुरी के बाहर उद्यान में पहुँच गये। राजा चन्द्रसेन ने गोविन्द आदि के ठहरने की यहीं उद्यान में व्यवस्था की और गोविन्द से कहा—

"मैं नगरी में जाकर आपके स्वागत की तैयारियाँ करता हूँ। आपका नगर-प्रवेश धूमधाम से होगा।"

फिर तैयारियाँ होने लगीं। चम्पापुरी के हर घर पर वन्दनवारें टँगीं। पूरी चम्पापुरी नववधू-सी सज गई। वाद्य-ध्वनियों के साथ गोविन्दसिंह ने नगर-प्रवेश किया। वह हाथी पर बैठा था। प्रतिहारियाँ चंवर ढोरती जाती थीं। दूसरे हाथी पर परदे से ढकी अम्बारी थी, जिस पर चम्पकलता और शीलावन्ती थीं। मार्ग में खड़े नर-नारी फूल बिखेर रहे थे। चम्पापुरी के लोग इस बात से बहुत चकित और हर्षित थे कि अतिथि राजा गोविन्दसिंह की शक्ल-सूरत उनके राजा चन्द्रसेन से बहुत मिलती थी। नगरी के मुख्य-मुख्य मार्गों से

गोविन्दसिंह की सवारी निकली। फिर सब अतिथि भवन में ठहरे। इसके बाद राजा चन्द्रसेन और अमात्यों के साथ गोविन्द सिंह भोजन के लिए बैठे। परोसने वाले ने चार मोदक एक सोने के कटोरे में विशेष रूप से गोविन्द के सामने परोसे और कहा कि ये आपके ही लिए हैं, इन्हें आप ही खायेंगे। जब सब चीजें परोसी जा चुकीं और ज्योंही गोविन्द ने थाल में हाथ डाला कि एक चील ने झपट्टा मारा और वह चारों मोदकों को कटोरे सहित लेकर उड़ गई। सब चकराये। पर यह कोई ऐसी विशेष बात नहीं थी, जिस पर ज्यादा चर्चा होती। चील-कौए तो झपट्टा मारते ही हैं। फिर सबने भोजन किया और गोविन्द अपने कक्ष में आया।

अपनी विद्या के बल से शीलावन्ती ही चील बनकर मोदक उठा लाई थी। उसी ने यह जाना था कि ये मोदक विष-मिश्रित हैं। गोविन्द ने जब मोदक पहचाने तो बोला—

"ये तुम्हारे पास?"

शीलावन्ती बोली—

"अभी देखिये क्या होता है?"

यह कह उसने मोदकों पर पानी छिड़का तो वे नीले हो गए। गोविन्द को स्पष्ट हो गया कि मुझे मारने की योजना थी। मैं तो खा ही लेता। शीलावन्ती ने बचा लिया। यों पति को सोचते-विचारते देख शीलावन्ती ने उससे कहा—

"स्वामी! आप राजा चन्द्रसेन की पूरी नगरी को निमंत्रण दीजिए। एक दिन के लिए सभी आनन्दपुर पधारें।

सवारी और भोजन की व्यवस्था मैं अपनी विद्याओं से करूंगी। अन्य देशों के राजाओं को भी उसी दिन बुला लें आप। उसी दिन सबके सामने इन मोदकों का रहस्य खुलेगा। विद्याबल से जो कुछ मैं जानती हूं, सो आपको बता दूंगी।"

अब गोविन्दसिंह ने राजा चन्द्रसेन से आनन्दपुर जाने की अनुमति मांगी और चम्पापुरी सहित निमंत्रण की बात कही। राजा चन्द्रसेन ने स्वीकार कर लिया। फिर तो शीलावन्ती ने दिव्य यानों की व्यवस्था की। सबके सब आनन्दपुर पहुंच गए। विद्या से ही तम्बू लग गए, वितान तन गए। गोविन्द और शीलावन्ती दोनों ने ही बाबा लालगिरि का स्मरण किया तो वे भी प्रकट हो गए। सबने उठकर उनका स्वागत किया। गोविन्द ने तो चरण पखारे और उन्हें सबसे ऊंचा आसन दिया।

इसके बाद गोविन्द का स्वर गूंजा—

"राजा चन्द्रसेन! चम्पापुरी से सब आ गए या कोई रह गया है?"

राजा ने कहा—

"सब आ गए राजन्!"

"झूठ बोलते हो, राजन्!" गोविन्द ने कहा—"देवी-स्वरूपा चन्द्रावती रानी कहां हैं? वे तो अभी नहीं आई।"

राजा बोला—

"उसका नाम मत लो गोविन्दसिंह। वह पापिन है। उसने श्वानसुतों को जन्म देकर मेरे कुल को कलंक लगाया है।"

गोविन्द कुछ कहता कि उससे पहले ही बाबा लालगिरि ने गरज कर कहा—

"यह तो वक्त की बात है कि सती नारी पापिन समझी जाएँ और दुष्टाएँ मान पायें। अब समय आ गया है असली-नकली के भेद खुलने का। पहले चन्द्रावती को बुलाओ, तब आगे की बात होगी।"

राजा चन्द्रसेन चकरा गया। शीलावन्ती के विमान में चम्पकलता आदि बैठे। राजा चन्द्रसेन का मन्त्री भी था। वे सब चम्पापुरी के उद्यान भवन में पहुँचे। चन्द्रावती तो मात्र हड्डियों का ढाँचा थी। अठारह वर्ष में सूखकर काँटा हो गई थी। विमान में बैठाकर शीलावन्ती उसे आनन्दपुर ले आई। नगर के निकट ही शीलावन्ती ने एक वितान तान दिया। वहीं उतारा चन्द्रावती को। सैंकड़ों दासियां विद्या से प्रगट हो गईं। सहस्रपाक लक्षपाक-तेल भी आ गया। दासियों ने तेल मर्दन किया। चन्द्रावती की देह कान्तिमयी हो गई। शीलावन्ती ने उसको दिव्य औषधों से एकदम स्वस्थ और आकर्षक बना दिया। अब वह सभा में लाई गई। यथास्थान बैठी चन्द्रावती। अब बाबा लालगिरि ने कहना शुरू किया—

"राजा चन्द्रसेन, आगन्तुक राजाओ, मंत्रियो, चम्पापुरी और आनन्दपुर के नागरिको! अब आप सुनें यहाँ तक की कहानी। यहाँ बैठी सुभामा, अलका आदि बारहों रानियाँ और तेरहवीं, सुनन्दा दाई विशेष रूप से सुनें।"

इन तेरहों को तो अपनी मौत दिखाई देने लगी। बाबा कहते गए। गंगदत्त किसान ने राजा चन्द्रसेन का प्रभात मुख-दर्शन इसलिए अशुभ माना था कि राजा चन्द्रसेन अपुत्री था। उसकी इस मान्यता-धारणा से क्षुब्ध होकर राजा चन्द्रसेन चम्पापुरी छोड़ गया था। वन में कुलदेवी ने सन्तान होने की भविष्यवाणी की थी और नागकन्या चन्द्रावती से विवाह करने का उपाय भी बताया था। ये सब बातें बाबा लालगिरि ने सभी को विस्तार से सुनाईं। इसके बाद मणि द्वारा चन्द्रावती की प्राप्ति, उसका गर्भवती होना और सुलखा आदि के षड्यन्त्र से लेकर अब तक की समस्त बातें सुनाते हुए बाबा ने कटोरे में रखे मोदकों की ओर संकेत किया और बोले—

"गोविन्दसिंह को मारने का यह अन्तिम प्रयास आपके सामने है।"

अब राजा चन्द्रसेन का क्रोध देखते ही बनता था। तेरहों को तुरन्त बन्दी बनवाया। सबके सामने ही राजा चन्द्रसेन ने चन्द्रावती से क्षमा माँगी। रो पड़ी चन्द्रावती। पति के चरणों में गिर पड़ी। पुत्र-पुत्री को वक्ष से लगाया चन्द्रावती ने। बहू शीलावन्ती ने पैर छुए चन्द्रावती के। बहुत देर तक मिलना-जुलना चला। अब राजा चन्द्रसेन ने अपना निर्णय दिया—

"इन तेरहों दुष्टाओं के टुकड़े करवाकर इन्हें कुत्तों के आगे डाल दो।"

गोविन्द ने राजा चन्द्रसेन को रोका—

"नहीं राजन् ! नारी अवध्य है। ऐसा कठोर दण्ड न दें।"

तभी चम्पापुरी की प्रजा चिल्लाई—

"नहीं, नहीं। इन दुष्टाओं को जीवित नहीं छोड़ा जा सकता।"

अब राजा चन्द्रसेन ने भी कहा—

"जैसा अपराध, वैसा दण्ड, यही न्याय है। इन्हें प्राण दण्ड तो मिलेगा ही, पर यहाँ आनन्दपुर में नहीं, चम्पापुरी में। चम्पापुरी की प्रजा का विरोध मैं कैसे करूँ?"

इसके बाद अपनी पत्नी चन्द्रावती, पुत्र, पुत्री और पुत्र-वधू सहित राजा चन्द्रसेन चम्पापुरी पहुँचा। चम्पापुरी के प्रवेशद्वार के बाईं ओर इन तेरहों को मारकर डाल दिया और इन्हीं के ऊपर एक चबूतरा बनवा दिया। राजा चन्द्रसेन का क्रोध इतने से ही शान्त नहीं हुआ। उसने एक परम्परा डाली कि विदेशी आगन्तुक जो भी चम्पापुरी में प्रवेश करेगा, इस चबूतरे पर बारह जूते मारकर जायेगा।

× × ×

चम्पापुरी के उद्यान में उज्जयिनी के सेठ लक्ष्मीधर का सार्थ ठहरा था। ये सेठ कालू नाई को यह कहानी सुना रहे थे। कहानी पूरी करके सेठ ने कालू से कहा—

"कालू ! तेरे प्रश्न का उत्तर मिल गया। तभी से सवा हाथ का जूता चबूतरे पर रखा है और तभी से यह परम्परा चली आती है। आज वर्षों बीत गए, इसलिए आज

कोई नहीं जानता। अब न तो राजा चन्द्रसेन है और न गोविन्द सिंह। उस समय के आदमी भी नहीं हैं। यह बात बहुत पुरानी थी, जो कुलदेवी ने मुझे बताई और मैंने तुम्हें तथा तुम्हारे साथ अन्य सबको सुनाई। अब तो सार्थ आगे बढ़ेगा ?"

सब हँसने लगे। कालू की योजना विफल हो गई। अब वह बीच में से ही अपनी नई-नवेली पत्नी अनोखी के पास नहीं लौट सकता था। कालू ने सोचा, जब ऐसी पेचीदा बात का रहस्य भी कुलदेवी की सहायता से सेठजी ने बता दिया तो अब तो सब बता ही देंगे। अतः अब बीच में से लौटना मुश्किल है, फिर सब चम्पापुरी से आगे बढ़ने की तैयारी करने लगे। इसी बीच एक अन्य ने सेठ लक्ष्मीधर से कहा—

"सेठजी ! यह कहानी तो अभी और भी होगी ? कालू के प्रश्न का उत्तर तो मिल गया, पर इस कहानी का अन्त अभी नहीं हुआ। अतः फिर क्या हुआ, यह भी बताइए।"

सेठ लक्ष्मीधर बोले—

"अब तो हाथी निकल गया, बस हाथी की पूंछ बाकी है। जूते मारने का मुख्य कारण और उसके पीछे छिपी कहानी मैं कह चुका हूँ। अब इसका शेषांश किसी दूसरे पड़ाव पर सुना देंगे।"

यथासमय सेठ लक्ष्मीधर ने सार्थ के साथ चम्पापुरी से आगे प्रस्थान कर दिया। □

10

सेठ लक्ष्मीधर ने पड़ाव पर विश्राम लिया। रात्रि के समय सभी लोग एकत्र हुए और कहानी का शेषांश सुनने का आग्रह करने लगे। सेठ ने कहा—

एक बार एक जंघाचारी मुनि आकाश से चम्पापुरी की भूमि को पावन करने उतरे। उद्यानरक्षक ने राजा चन्द्रसेन को मुनि आगमन का शुभ संवाद दिया। हर्षित-पुलकित होकर राजा चन्द्रसेन ने उद्यानरक्षक को अपने कण्ठ से उतारकर हीरक हार दिया। फिर भेरीनाद के साथ समस्त पुरी में यह संवाद प्रचारित करा दिया कि चम्पापुरी के भाग्य जागे हैं। मुनि की देशना सुनकर सब अपना जीवन सफल करें।

सभी मुनि की देशना सुनने उद्यान गए। वसन्तोत्सव में सम्मिलित होने के लिए गोविन्दसिंह भी आनन्दपुर से चम्पापुरी आया हुआ था। अतः अपनी प्रिया शीलावन्ती सहित गोविन्दसिंह भी मुनि-देशना सुनने गया। चम्पकलता को भी मुनिदर्शन तथा धर्मश्रवण की इच्छा जगी, वह भी साथ गई। राजा चन्द्रसेन और रानी चन्द्रावती के साथ ही महामंत्री सुबुद्धि आदि सचिव-अमात्य भी गए। हजारों नागरिक भी गए। सबने एकाग्रचित्त होकर आकाशचारी मुनि की धर्म-देशना सुनी।

परमज्ञानी और परमतपस्वी मुनि की देशना सुनी

बाबा लालगिरि भी आये थे। और तो और उद्यान के पशु-पक्षी भी शान्त होकर मुनि की देशना सुन रहे थे। देशना की समाप्ति पर जिज्ञासु श्रोताओं ने अपनी-अपनी शंकाओं का समाधान प्राप्त किया। गोविन्दसिंह के मन में भी एक प्रश्न घुमड़ रहा था। सो उसने भी पूछा—

"भन्ते ! पुण्ययोग से मैंने राज-परिवार में जन्म लिया। उत्तराधिकार में पिता के राज्य का युवराज बना और बिना प्रयास के आनन्दपुर का राज्य प्राप्त कर लिया। शीलावन्ती जैसी परमसुन्दरी और विद्यापारंगता के साथ ब्याह हुआ मेरा। इस सबके अतिरिक्त अठारह वर्ष तक मैंने माता-पिता का वियोग सहा। मेरा पालन-पोषण अनाथ बालक की तरह हुआ। सुख-दुःख की यह छाया मेरे जीवन में किन कर्मों के कारण आई ?

"प्रभो ! आप तो भूत-भविष्य भी जानते हैं। मैं अपना पूर्वभव सुनने का इच्छुक हूँ। करुणासागर ! मेरे पूर्वभव की घटनाएँ सुनाकर मेरी शंका का समाधान कीजिए।"

ज्ञानी मुनि कुछ क्षण आँखें बन्द किये बैठे रहे। फिर आँखें खोलीं और धीर-गंभीर वाणी में बोले—

"भव्य आत्माओ ! गोविन्दसिंह आदि का पूर्वभव सभी के लिए प्रेरणाप्रद होगा। आज जो-जो गोविन्दसिंह से सम्बन्धित हैं, ये सब पूर्वभव में भी इससे सम्बन्धित थे। यह जगत एक नाटकशाला ही समझो। पूर्वकर्मों का फल भोगने के लिए ही नाते-रिश्ते बनते हैं और इन सम्बन्धों में राग-द्वेष का

बंधन भी बँधा होता है। सभी सम्बन्ध झूठे हैं और के
फल भोगने के कारण ही सच्चे-से भासित होते हैं। अब
गोविन्दसिंह आदि का पूर्वभव सुनो।"

मुनिदेव फिर कुछ क्षण के लिए मौन हो गए और ए
एक ही एक कहानी इस प्रकार सुनाने लगे—

पुराने समय की बात है। तिलकपुर नाम का एक सु
सुहाना नगर था। तिलकपुर नगर चम्पापुरी से कुछ बड़ा
था। उसमें बहुत से सुन्दर उद्यान थे और निर्मल नीर से
सरोवर भी थे। धनी-मानी सेठ साहूकार तिलकपुर में र
थे। इनमें सुदत्त नाम का एक सेठ भी था, जो बहुत स
और धार्मिक रुचि का व्यक्ति था। उसकी सेठानी गुणसु
भी लाखों में एक, परम रूपवती, साथ ही पतिव्रता नारी थ

तिलकपुर का राजा संजति था। उसके एक पुत्र थ
राजपुत्र का नाम था माधव। माधव जब युवराज बना
राजा संजति ने उसका विवाह बारह राजकन्याओं से
किया। कुंवर माधव वैसे तो पराक्रमी था, पर उसमें
दूषण यह था कि वह विलासी प्रकृति का था।

एक बार राजकुमार माधव उद्यान भ्रमण को गय
वहाँ उसने सेठानी गुणसुन्दरी को देखा तो उस पर मोहित
गया। वह भी उद्यान-भ्रमण को आई थी। सेठानी को
माधव ने उससे कामयाचना करते हुए कहा—

"सुन्दरी ! तुझ जैसी सुन्दरी तो मैंने स्वप्न में भी न
देखी। तेरे एक स्पर्श से मैं धन्य हो जाऊँगा। तू कोई भी

पर है तो मेरे पिता की प्रजा ही। भविष्य में मैं ही तो तिलकपुर का राजा बनूंगा और तुझे पटरानी बनाऊँगा।"

सरल वचनों से सन्मार्ग पर लाने के विचार से गुणसुन्दरी ने माधव को ऊँच-नीच समझाया। परदारारमण के दोष समझाये। बहुत कुछ कहा, पर माधव पर तो काम का भूत सवार था। उसने स्पष्ट कहा—

"मुझे शिक्षा मत दे। तेरा यह नश्वर शरीर किसी दिन यों ही मिट्टी में मिल जायगा। याद रख, मैं भी राजकुमार माधव हूँ। तुझे अपनी अंकशायिनी बनाकर ही छोड़ूंगा।"

क्रुद्ध स्वर में सेठानी ने भी कहा—

"स्यार कभी भी सिंहनी का स्पर्श नहीं कर सकता। ऐसा निश्चय करके तुमने अपना परलोक ही बिगाड़ा है, मेरा कुछ नहीं बिगड़ा।"

इतने में कुछ लोग और भी आ गए। राजकुमार खून का-सा घूंट पीकर रह गया। सेठानी अपने घर पहुँची और सेठ को सब वृत्तान्त सुनाते हुए बोली—

"स्वामी! यह नगर ही छोड़ दो। हमारे लिए जैसा यह तिलकपुर, वैसा ही कोई और नगर। माधव दुष्ट है और उसे युवराज होने का घमण्ड भी है।"

श्रेष्ठी सुदत्त ने गुणसुन्दरी से कहा—

"प्रिये! जूं के भय से कपड़ा नहीं फेंका जाता। एक कामी-लम्पट राजकुमार के भय से मैं अपनी जन्मभूमि कैसे छोड़ दूं? दुराचारी में साहस नहीं होता। मैं उसे देख लूंगा

तू चिन्ता मत कर।"

दिन बीता और पहली ही रात माधव सेठ सुदत्त के घर पहुँच गया। सेठ घर पर नहीं था। भयभीत सेठानी तल-घर में चली गई और किवाड़ बन्द कर लिये। माधव भी अड़ कर बैठ गया। फिर रात को सेठ अपना काम करके आया तो माधव भाग गया। पूरा निश्चय हो जाने के बाद सेठानी ने किवाड़ खोले और धड़कते हृदय से सेठ से पूछा—

"स्वामी ! माधव गया क्या ? वह लम्पट यहीं डटा हुआ था। ऐसे मैं कब तक बचूंगी ? आप मेरी बात मान क्यों नहीं लेते ?"

सेठ ने कहा—

"प्रिये ! सवेरा होने दे। कल ही मैं कुछ कर दिखाऊँगा। ऐसा पाठ पढ़ाऊँगा कि वह बच्चू भी याद करेगा। उसकी बारह पत्नियाँ हैं। वे भी अपने पति की दुर्गति देखेंगी।"

सेठ-सेठानी—दोनों आनन्द से सोये। सवेरा हुआ। सेठ सुदत्त अपनी दुकान पर नहीं गया और माधव को पाठ पढ़ाने के काम में लग गया। सेठ ने अपना वेश बदला। नर से नारी बन गया। नीला कंचुक, लाल साड़ी, समस्त आभूषण और विपरीत निश्चय कराने के लिए लम्बा-सा घूंघट। रुन-झुन करते हुए सेठ सुदत्त युवराज माधव के भवन में पहुँचा। दासी के हाथ पर एक स्वर्णमुद्रा रखी और उससे कान में कहा—"युवराज से एकान्त मिलन करा दे।" दासी ने

सुदत्त को भवन वाटिका में पीछे ले गई और युवराज को संदेश दिया—"स्वामी ! सेठानी गुणसुन्दरी भवन वाटिका में आपकी प्रतीक्षा कर रही हैं।"

दौड़ता हुआ गया माधव। घूंघट में अपनी मूंछें छिपाये हुए और पुरुष स्वर को यथासंभव कोमल करते हुए सेठ सुदत्त ने कहा—

"प्राण प्यारे ! रात भर तुम्हारी याद में तड़पी हूं। तुम ऐसे वेवक्त पहुँचे कि मेरे पति आने वाले थे। अब हुआ सो हुआ, पर आज मैं तुम्हारी रात सार्थक करूँगी।"

कामातुर होकर माधव बोला—

"तुम इतनी जल्दी मान जाओगी, इसकी आशा मुझे नहीं थी। फिर भी मैं निराश नहीं हुआ था। रात में क्यों, अभी क्यों नहीं ? यहां मेरी आज्ञा के बिना कोई नहीं आ सकता।"

सेठानीरूप सेठ ने कहा—

"नहीं प्यारे ! तुम्हारा तो कुछ न बिगड़ेगा, पर मैं तो बदनाम हो जाऊँगी। इसलिए जब अष्टमी का चन्दा उदित हो, उसी समय उद्यान में आ जाना। मैं अवश्य आऊँगी।"

इतना कहते ही सेठ सुदत्त बाहर हो गया। आशाएँ सँजोकर दुराचारी माधव प्रसन्नमन घूमने चला गया। इधर सेठ सुदत्त ने नारी वेश उतारा और एक गंधी सौदागर का वेश बनाया—गंधी अर्थात् गंध द्रव बेचने वाला। सेठ सुदत्त बहुत ऊँचा व्यापारी था। विदेशों के वने फूलों से निकली

गंध सत उसके पास बहुत-बहुत कीमती थीं। बारह स्वर्ण-पात्रों में गंध द्रव (इत्र, फुलेल, सेंट आदि) लिया और युवराज माधव के अन्तःपुर के निकट पहुँचा। यहाँ भी दासियों को धन देकर अनुकूल बनाया और बारहों युवरानियों के भुंड में पहुँच गया। एक-एक बूँद गंधद्रव सब के हाथ पर रखा तो उसकी मादक, भीनी और मोहक सुगन्ध से सब मुग्ध हो गईं। बड़ी बोली—

"गंधी! तुम कहाँ से आये हो? ऐसा गंधद्रव तो हमने पहले कभी नहीं देखा। एक-एक गंधपात्र हमें भी देते जाओ, मुँहमांगा मूल्य मिलेगा।"

गंधीरूप सेठ सुदत्त ने शीशीनुमा छोटे-छोटे सुवर्ण पात्र एक-एक युवरानी को दे दिये। फिर बोला—

"इनका मूल्य तो आँका नहीं जा सकता। पर तुमसे क्या मूल्य लेना? आज रात को तुम चन्द्रोदय के एक प्रहर बाद उद्यान में आना, वहीं मूल्य की बात हो जायगी।"

माधव की पत्नियों ने एक दूसरी की ओर देखा। वे सब गंधी का अभिप्राय समझ गईं। गंधी रूपवान भी बहुत था। और फिर दुराचारी—परदाराभोगी पुरुष की पत्नियाँ भी यदि परपुरुषगामिनी हो जाएँ तो ज्यादा आश्चर्य नहीं। बारहों एक दूसरे की ओर देखकर मुस्कराईं मानो सबने गंधी की बात स्वीकार कर ली। फिर तो एक ने स्पष्ट कह दिया—

"अच्छी बात है। हम अमुक उद्यान में अवश्य

आयेंगी।"

गंधी ने याद दिलाया—

"लेकिन समय का ध्यान रखना—चन्द्रोदय के एक प्रहर बाद ही। पहले मत आना।"

इसके बाद सुदत्त अपने घर आया और सेठानी गुणसुन्दरी से कहा—

"प्रिये ! आज अपना तलघर साफ करा लेना। उसमें अब बहुत-से मेहमान आकर रहेंगे।"

सेठानी ने विस्तार से जानना चाहा तो सेठ ने कह दिया कि कुछ बातें समय आने पर ही बतानी चाहिए, पहले नहीं, दिन भर की प्रतीक्षा करो।

इधर रात हुई। कृष्णपक्षीय अष्टमी की तिथि थी। इस दिन क्षीणकाय चन्द्र आजकल के घड़ी-समय के अनुसार लगभग साढ़े-बारह एक बजे अर्द्धरात्रि को निकलता है। तब बजे नहीं होते थे, इसलिए समय का माप चन्द्रोदय तथा भिन्न-भिन्न तारों के उदय-अस्त से लगाया जाता था। इसके अनुसार ही सेठ सुदत्त ने माधव को चन्द्रोदय के समय अर्थात् अर्द्धरात्रि का मिलन समय दिया था और उसकी पत्नियों को एक प्रहर बाद अर्थात् रात के ढाई-तीन के लगभग।

यथासमय स्त्री का वेश रखकर सेठ सुदत्त उद्यान पहुँचा। माधव पहले ही आ गया था। सुन्दरी अवगुण्ठनवती नारी के रूप में सेठ सुदत्त मदिरा-पात्र लिये था। माधव ने उसके हाथ से मदिरा-पात्र लेते हुए कहा—

"दिन में भी घूंघट और अब रात में भी घूंघट। पहले इस घूंघट को हटाओ।"

सेठ बोला—

"प्राणप्यारे! मदिरा पीकर पहले मस्त हो जाओ, फिर तो मैं अपना वेश ही उतार दूंगी, घूंघट तो बहुत छोटी बात है।"

कामी माधव सेठ का संकेत नहीं समझ पाया और गटागट-गटागट अंगूर की बेटी को चढ़ा गया। पूरा पात्र खाली कर दिया, जो आजकल की डेढ़ बोतल के बराबर था। माधव मस्त हो गया। सेठ ने वेश उतारा। उसकी मूंछें चमकीं और माधव की आंखें भी झपकीं। सेठ ने बांध लिया उसे। उसके छिपे सुभट भी आ गए। रथ में डालकर सेठ माधव को घर ले गया और तलघर में पटक दिया।

एक काम पूरा हो गया सेठ सुदत्त का। दूसरे में एक प्रहर की देर थी। सेठ ने फिर वेश बदला। इस बार गंधी बना सेठ। यथासमय उद्यान में पहुंच गया। माधव की बारहों पत्नियां मिलीं। गंधीरूप सेठ ने सभी को थोड़ी-थोड़ी मदिरा पिलाई। जब वे मस्त हो गईं तो सेठ बोला—

"कामिनियो! अब मेरा विचार बदल गया है। मैं परनारी का स्पर्श भी नहीं करता। तुम सब मेरी मां-बहन हो।"

बारहों चकराईं और फिर क्रुद्ध भी हुईं। झल्लाकर बोलीं—

"पापी ! अब हमें क्यों तड़पाता है ? हम बारह हैं और तू अकेला । तुझे नोंच डालेंगी ।"

सेठ ने ताली बजाई । चारों ओर छिपी हट्टी-कट्टी बहुदिन दासियाँ आ गईं। एक-एक पर चार-चार लगीं। बारहों को बाँध लिया । मूल बात यह कि वे बारहों भी माधव के पास तलघर में पहुँचा दी गईं । जब तेरहों इकट्ठे हो गए तो सेठ सुदत्त सेठानी गुणसुन्दरी को लेकर तलघर में पहुँचा और बोला—

"अब तुम अपने मन की इच्छा पूरी करो । माधव को स्त्री की जरूरत है, सो उसकी बारह पत्नियाँ उसके साथ रहेंगी—रात में भी और दिन में भी और बारहों को भी गंधीरूप पुरुष की जरूरत है सो इनका पति भी इनके पास है । परदारा की कामना और परपुरुष की इच्छा का दण्ड अब ये इसी घर में भोगते रहेंगे ।"

इतना कह सेठ सेठानी के साथ बाहर आया और नित्य की तरह अपने दैनंदिन काम में लग गया । गुणसुन्दरी का भय भी दूर हो गया । इधर राजा संजति ने अपने पुत्र की बहुत ढूंढ-खोज की । तिलकपुर का चप्पा-चप्पा छान लिया । अन्त में यही निश्चयकर राजा-रानी ने मन को समझाया कि बिना कहे-सुने माधव कुँवर अपनी बारहों रानियों को लेकर कहीं विदेश चला गया होगा । रात भर में ही भाग **गया मन-मौजी** ।

इस घटना को अठारह महीने हो गए ।

एक ज्ञानी मुनि आए। सब नागरिकों के साथ सेठ सुदत्त और सेठानी गुणसुन्दरी भी मुनि की देशना सुनने गए। कर्मबन्धों पर प्रकाश डालते हुए मुनि ने कहा—

"किसी से वैर मत बाँधो। शत्रु को भी क्षमा करो। क्योंकि 'शठे शाठ्यं समाचरेत' का सिद्धान्त परलोक बनाने वाले साधक पर लागू नहीं होता। वैर की परम्परा फिर जन्म-जन्मान्तर तक चलती है। इस भव में तुम किसी से वैर बाँधोगे तो अगले भव में कई गुना वैर पाओगे। फिर वह वैर बाँधेगा तो तुम उससे निपटोगे। यह क्रम चलता रहेगा। इसी एक बन्ध के कारण तुम्हें बार-बार जन्म धारण करना पड़ेगा और यह क्रम टूटेगा नहीं।"

मुनि देशना से सेठ-सेठानी दोनों प्रतिबुद्ध हो गए। सेठ सुदत्त ने अठारह महीने बाद माधव तथा उसकी बारह पत्नियों को मुक्त कर दिया और मुनि के पास संयम ग्रहण कर लिया। सेठानी ने भी उसका अनुकरण किया। समय बीता। बीतता गया। मुनि सुदत्त ने मरकर संयमप्रभाव से देवगति प्राप्त की। साधु-सेवा, चारित्र-पालन आदि के प्रभाव से वह देव बना और कर्मबन्ध भोगने के लिए उसने फिर मनुष्य जन्म लिया।

इतनी कथा कह जंघाचारी मुनि पुनः मौन हो गए। गोविन्दसिंह ने एक निःश्वास छोड़ा। [illegible], [illegible] आदि चकित होकर मुनि के मुख की ओर देखने लगे। [illegible]-पुरी के सभी श्रोता नागरिक आगे सुनने के लिए उत्सुक थे।

महामुनि ने पुनः कहना शुरू किया—

"भव्य जीवो! यह गोविन्दसिंह का पूर्वभव मैंने सुनाया। पूर्वभव का सेठ सुदत्त ही इस भव में राजकुमार गोविन्दसिंह है। अब आगे का इतिवृत्त सुनो।"

जब सेठ सुदत्त ने माधव कुंवर को बंधनमुक्त करके तलघर से निकाला था तो माधव ने परनारीचिन्तन-त्याग की प्रतिज्ञा की। सेठ ने इन तेरहों प्राणियों को रात में ही उद्यान पहुँचा दिया था। बहाना बनाकर माधव सपत्नीक अपने घर गया। किसी को कुछ पता नहीं चला। माधव की लाज भी बच गई थी। लेकिन उसे दुर्बल देख राजा संजति ने पूछा—

"पुत्र! तुम बाहर रहे, यह तो समझ में आ गया, पर इतने दुबले कैसे हो गए हो? मालूम पड़ता है तुम्हें एक वक्त भी भरपेट भोजन नहीं मिला।"

माधव ने बताया—

"जाने दो पिताजी! किसी शत्रु के चंगुल में फँस गया था।"

"वह कौन शत्रु है तुम्हारा?" राजा ने पूछा—"उसका नाम तो बता दो। मैं उसे दण्ड देने में समर्थ हूँ।"

फिर माधव ने समस्त वृत्तान्त सुनाया तो राजा ने कहा—

"पुत्र! तेरा असली शत्रु तो तेरा पाप था। परदारा-भोग की इच्छा ने ही तेरी दुर्गति की। सेठ सुदत्त के की मैं

अब क्या कह सकता हूँ, क्योंकि वे तो अब राग-द्वेषत्यागी मुनि हैं।"

समय बीता। शुभ-अशुभ कर्मों का बंध करके सबने देह त्यागी। पाँचवें स्वर्ग से च्युत होकर सेठ सुदत्त का जीव गोविन्द बना। इसकी पत्नी गुणसुन्दरी इसकी बहन चम्पक-लता बनकर जन्मी। कर्मों की माया का कोई पार नहीं पा सकता। कभी माँ पत्नी बनती है और कभी पत्नी बहन बनती है। इसी तरह कुँवर माधव राजा चन्द्रसेन बना और उसकी पूर्व बारहों पत्नियाँ इस भव में भी इसकी पत्नियाँ बनीं।

अठारह महीने का बदला अठारह वर्ष में पूरा हुआ। अठारह वर्ष तक गोविन्द चम्पकलता के रूप में पूर्वभव के सेठ सुदत्त और सेठानी गुणसुन्दरी अपने माता-पिता से अलग रहे। तलघर में डालने का बदला यह मिला कि जन्मते ही घट में डाला गया इन्हें।

इस भव की चन्द्रावती, शीलावन्ती और बाबा लाल-गिरि पूर्वभव में परस्पर मित्र थे और साथ ही सुदत्त सेठ के भी आत्मीय थे। सो इस भव में चन्द्रावती जननी बनी, शीलावन्ती पत्नी बनी और बाबा लालगिरि पालनहार बने। पूर्वभव में चन्द्रावती ने अज्ञानवश एक मुनि को सताया था, सो इस भव में वह अठारह वर्ष पति परित्यक्ता रही। उसने एक मोरनी के अण्डे स्थानांतरित करके पटक दिये थे और मोरनी अठारह घड़ी बाद उन्हें ढूँढ़ पाई थी, सो वह मोरनी सुलक्षणा दाई बनी और चन्द्रावती के बच्चों को घट में डाल-

कर अपना बदला ले लिया। अठारह घड़ी के अठारह वर्ष हो गए।

ज्ञानी मुनि ने गोविन्द आदि से कहा—

"भव्यजीवो! निकाचित कर्मों को भोगे बिना छुटकारा नहीं है। इसलिए कर्मबन्ध से बचो। जो करो आगा-पीछा सोचकर करो। आपने देख ही लिया कि कर्म कैसे-कैसे जोड़-तोड़ भिड़ाता है। कर्म तो तीर्थंकरों और महान् पुरुषों को भी नहीं छोड़ता। समरादित्य केवली ने जो वैर बांधा था उसका भोग अनेक जन्मों तक भोगा।"

जंघाचारी मुनि की वाणी सुनकर राजा चन्द्रसेन और चन्द्रावती प्रतिबुद्ध हो गए। उन्होंने दीक्षा का संकल्प किया। गोविन्द तथा लीलावन्ती सहित अनेकों ने श्रावकव्रत अंगीकार किये। देशना समाप्त होने पर सब निज-निज घर आये। राजा चन्द्रसेन ने अपने पुत्र गोविन्द को चम्पापुरी के सिंहासन पर बैठाया और संयम लिया। गोविन्दसिंह ने माता-पिता दोनों संयमियों का दीक्षा महोत्सव मनाया। चम्पापुरीवासियों ने अपने राजा-रानी को भीगी पलकों से, पर आनन्द के अतिरेक में उद्यान तक पहुँचाया।

चन्द्रावती साध्वी बनी और चन्द्रसेन अणगार बने। दोनों ने आत्म-कल्याण करने के उद्देश्य से अन्यत्र विहार किया।

× × ×

अब गोविन्दसिंह दो देशों का राजा था। मुख्य रूप से वह चम्पापुरी ही रहता और वहीं से आनन्दपुर का शासन

व्यवस्था भी करता था। आनन्दपुर की तरह चम्पापुरी में भी आखेट का निषेध था। यहाँ भी मछुए सरोवरों से मछली नहीं पकड़ते थे। गोविन्दसिंह धर्मानुरागी, वीर, प्रतापी और न्यायप्रिय राजा था। उसके शासन में चम्पापुरी के लोग पूर्व राजा चन्द्रसेन के सुशासन को भी भूल गए थे।

इस तरह न्याय-नीति से राज्य करते हुए गोविन्दसिंह को अनेक वर्ष हो गए। वह अब पिता भी बन गया था। शीलावन्ती ने एक सुन्दर पुत्र को जन्म दिया था। नाम था शीलसेन। समय के साथ-साथ राजकुंवर शीलसेन भी बड़ा हुआ। सब विद्याओं में निष्णात बना और राजा गोविन्दसिंह ने उसका विवाह भी कर दिया। इतने पर भी राजा गोविन्दसिंह को कुछ याद नहीं आया। लेकिन याद तो आना ही था, सो तब आया जब एक बार चम्पापुरी में मुनि धर्मघोष आये। उनकी देशना सुनकर गोविन्दसिंह प्रतिबुद्ध हो गया और निश्चय किया कि अपने पिता का अनुकरण करना चाहिए मुझे। अब कब जाऊँगा ? यह सोच गोविन्द ने पुत्र शीलसेन को राजा बनाया और स्वयं अणगार बन गया। शीलावन्ती भी साध्वी बनी।

मन लगाकर वर्षों तक संयम का पालन किया राजर्षि गोविन्द ने। पूर्वभव में तो स्वर्ग ही प्राप्त किया था और इस भव में वह सिद्ध-बुद्ध बन गया। मोक्ष पाया राजर्षि गोविन्द ने। साध्वी शीलावन्ती ने स्वर्गलोक में देवभव पाया। एक ही जन्म की साधना में सिद्धि नहीं मिल पाती। आगामी भवों में

शीलावन्ती भी शिवपुरवासिनी बनेगी। मनुष्य मात्र इसी उद्देश्य को लेकर जन्म लेता है, पर भूला रहता है। इसी-लिए तो वह ज्ञानपापी भी है। जागते हुए भी सोता है। गोविन्दसिंह के दोनों भव ज्ञान-पापियों को जगाने में पूर्ण सक्षम हैं।

× × ×

कहानी पूरी करते हुए सेठ लक्ष्मीधर ने कहा—कालू ! कभी-कभी गड्ढा खोदते-खोदते भी खजाना मिल जाता है। तुमने अपनी कुटिलता के कारण जूते मारने का रहस्य पूछा और पूरे सार्थ को रोकना चाहा, इसी का उत्तर देने के लिए मुझे कुलदेवी की आराधना कर यह सब रहस्य जानना पड़ा। पर अब जो अतीत का एक पर्दा उठा है, वह सबके लिए मनो-रंजक होने के साथ-साथ शिक्षाप्रद भी है। मनुष्य का भाग्य बड़ा विचित्र है। मारने वाले से बचाने वाला बड़ा है।

संसार में नियति या कर्म अटल है। जो विष का बीज बोयेगा उसे जीवन में अमृतफल कभी नहीं मिल सकता। बुरा अन्त में बुरा और भला अन्त में भला। ये सब बातें आज हमारे सामने स्पष्ट हो गई हैं।

मनुष्य का भाग्य ही उसकी रक्षा करता है—रक्षन्ति पुण्यानि पुराकृतानि —और भाग्यशाली का—

"बाल न बांका कर सके, जो जग बैरी होय।"

यह सत्य गोविन्दसिंह के इस चरित्र में उजागर हो गया है।

लक्ष्मीधर सेठ ने आगे कहा—हमारे सार्थ के सभी बन्धु धन कमाने के लिए परदेश जा रहे हैं। बाल-बच्चों को, घर-परिवार को दूर छोड़कर अनजाने प्रदेशों और बीहड़ वनों से गुजर रहे हैं। पर इस कथा को सुनाकर मैं सभी बन्धुओं से यह कहना चाहूँगा कि निर्भय और निश्चिन्त होकर आगे बढ़ें, भाग्य सभी को वांछित फल देगा।

कहानी पूरी सुनाकर सेठ लक्ष्मीधर ने कालू नाई और सार्थ के सभी लोगों को साहस और धीरज के साथ प्रभु भक्ति करते हुए आगे बढ़ने की प्रेरणा दी।